मोहरी देवी दूगड़ जैन ग्रंथ-माला—१

धर्म और संस्कृति

[धर्म और संस्कृति पर अनुभवी सन्तों और विद्वानों के चिन्तनपूर्ण विचारों का संकलन]

●

संकलन-कर्ता

जमनालाल जैन, साहित्य-रत्न

भारत जैन महामण्डल

१९५१

प्रकाशक :

मूलचंद बड़जाते

सहायक मंत्री,

भारत जैन महामंडल, वर्धा

प्रथम संस्करण : ३०००

मूल्य : एक रुपया चार आना

मुद्रक :

जमनालाल जैन

व्यवस्थापक,

श्रीकृष्ण प्रि० वर्क्स, वर्धा

अपनी ओर से

'धर्म और संस्कृति' पुस्तक पाठकों के हाथों में है। पाठक देखेंगे कि धर्म और संस्कृति के जो प्रश्न या चित्र हमारे दिमाग में या व्यवहार में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में रहते हैं या तत्सम्बन्धी समस्याओं की जो उलझन हमें व्यस्त रखती हैं उनकी चर्चा इस संग्रह के लेखों में आई है। लेखकों में विशेषकर वे ही हैं जिनका धर्म और संस्कृति की समस्याओं के चिन्तन से गहरा सम्बन्ध रहा है। मैं समझता हूं, ये लेख पाठकों को पसन्द आएंगे और चिन्तन का मौका भी देंगे।

अधिकतर लेख 'जैन जगत' के पिछले अंकों से ही लिए गए हैं। कुछ लेखों में पुनः संशोधन भी करना पड़ा है। मैं उन सब लेखकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रति कृतज्ञ हूं जिनके लेखों का उपयोग किया गया है और जिन्होंने अपनी अनुमति प्रदान कर उत्साह बढ़ाया है।

पुस्तक का प्रकाशन 'भारत जैन महामण्डल' द्वारा संचालित 'श्री मोहरीदेवी दुग्गड़ जैन ग्रंथ-माला' की ओर से हो रहा है। यह उसका प्रथम पुष्प है।

भारत जैन महामण्डल असाम्प्रदायिक संस्था है और सब धर्मों के प्रति समन्वय साधना उसका ध्येय है। और, इसी लिए इस संग्रह के अधिकांश लेख किसी विशिष्ट धर्म या परम्परा के न होकर अखंड मानवता परक ही हैं। फिर भी श्रमण परम्परा से विशेष सम्बन्ध होने के कारण उस ओर दृष्टि का रहना स्वाभाविक ही है। लेकिन ध्यान रखा गया है कि ऐसे स्थलों पर मोह को प्रश्रय न मिल पाए।

संकलन और मुद्रण की जिम्मेदारी मेरी ही रही है और इस कारण त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझ पर ही आ जाता है। अशुद्धियों के लिए पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूं।

अगर पाठकों का सहयोग मिला तो ऐसे ही दूसरे विचारपूर्ण प्रकाशन भी पाठकों को भेंट किए जा सकेंगे।

एक बात और। महामण्डल के प्रकाशन व्यापार की दृष्टि से नहीं, विचार-जाग्रति की दृष्टि से ही किए जाते हैं और इसीलिए कीमत भी कम-से-कम रखने का प्रयत्न रहता है।

वर्धा
१२ फरवरी '५१

आ भा र

प्रस्तुत पुस्तक 'श्री मोहरी देवी दुग्गड़ जैन ग्रंथ-माला' की ओर से प्रकाशित हो रही है। स्व० मोहरी देवी जयपुर के सोने-चांदी के प्रसिद्ध व्यापारी सेठ सोहनलालजी दुग्गड़ की माताजी थीं। सोहनलालजी वृत्ति से उदार और दानी हैं। गतवर्ष जब भारत जैन महामण्डल के अध्यक्ष श्री रिषभदासजी राका श्वेताम्बर कान्फरेंस में फालना गए थे तब सोहन-लालजी का विशेष संपर्क और परिचय आया। महामण्डल की विचारधारा और प्रवृत्तियों से वे काफी प्रभावित हुए और बहुत-कुछ सहायता प्रदान करने की इच्छा व्यक्त की। राकाजी ने थोड़े से समय में ही अनुभव किया कि इनमें अगर लाखों कमाने की क्षमता है तो मुक्त-हस्त से सबको देना भी आता है। अपने जीवन में उन्होंने सैकड़ों संस्थाओं और हजारों व्यक्तियों को लाखों रुपया दिया है और देते रहते हैं। पर महामण्डल उनसे अधिक ले नहीं सकता था। महामण्डल के लिए किसी से भी १०१) से अधिक स्वीकार न करने की नीति निर्धारित कर लेने के कारण उनकी इच्छा को भी रोकना पड़ा।

फिर उन्होंने राकाजी से कहा कि अगर आप सहायता नहीं लेते हैं तो मेरी माताजी की स्मृति में एक ग्रंथ-माला ही स्थापित कीजिए। आखिर उन्होंने १००१) प्रदान किए।

उनके धर्म सम्बन्धी उदार विचारों को ध्यान में रखकर ही इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है जिसमें किसी एक धर्म को महत्त्व न देकर अखण्ड मानवता और नैतिकता पर जोर दिया गया है।

हमारी अभिलाषा है कि जिस सद्भावना से यह ग्रंथ-माला शुरू हुई है, उसमें से अच्छी अच्छी जीवनोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हों और श्री सोहनलालजी दुग्गड़ को समाधान हो कि उनकी सद्भावना सार्थक हो रही है और उनके दान का सदुपयोग हो रहा है।

महामण्डल उनके इस प्रेम और सौजन्य के लिए कृतज्ञ है।

अनुक्रमणिका

धर्म और संस्कृति

: १ :

आजका धर्म

केदारनाथ

सही धर्म

हमारा जीवन कैसा हो, जिससे कि हमारी अपनी, मानव समाज की और धर्म की उन्नति हो सके ? हमें इस बात पर सोचना चाहिए। अपने तईं और इससे आगे बढ़कर सोचें तो समाज के तईं भी हम अपना धर्म बहुत-सा जानते ही नहीं और अपेक्षा रखते हैं, परलोक का धर्म जानने की —मृत्यु के बादवाले देवलोक के धर्म की। उसकी जिज्ञासा का विकास करते हैं, परंतु परलोक की कल्पना करने से अगर धर्म समझा जा सकता हो तो मैं उसे धर्म नहीं कहूँगा। धर्म की जरूरत हमारे जीवन में, व्यवहार में, हर काम में है। सही धर्म उसे ही कहते हैं, जिसके आचरण के परिणाम का दर्शन हम यहाँ कर सकें, अब कर सकें, जिसके कारण हमारा कल्याण हो सके, हमारी उन्नति हो सके।

जिसे हम काल्पनिक-धर्म समझते आए हैं, मेरे मन उसका कोई महत्त्व नहीं है।

व्रतों की जरूरत

मानवजाति का इतिहास देखिए, वंशपरंपरा से चलते आए संस्कारों पर दृष्टिपात कीजिए, उनके मूलभूत सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए, आप देखेंगे कि उनमें अहिंसा, सत्य अपरिग्रह तथा अस्तेय पर विशेष जोर दिया

गया है। यह नहीं समझना चाहिये कि उस जमाने में उनकी जरूरत थी और आज नहीं है। आज भी इन व्रतों को समझकर उन पर आचरण करने की जरूरत है। उससे हमारी उन्नति होनेवाली है। भाई-भाई के बीच आज जो वैरभाव और आपसी दुश्मनी फैली हुई है, वह दूर होने वाली है। ऐसा वैरभाव, ऐसी हीन-वृत्ति तो पशु-पक्षियों में भी नहीं पाई जाती, जब कि उच्च श्रेणी के और सुसंस्कृत समझे जानेवाले हम लोग एक-दूसरे को अविश्वास की नजर से ही देखते हैं।

प्रतिज्ञा के लिए नाराजी

आज काला-बाजार और रिश्वतखोरी की बुराई जगह-जगह दिखाई दे रही है। एक जमाना था, जब आपस में चीजोंका लेन-देन बड़े हेत-प्यार के साथ हुआ करता था। अकाल के जमाने में निराधार लोगों के लिए सदाबरत खोलने में धनवान अपनी दौलत न्योछावर कर देते थे। आज पूंजीपति समाज तो गरीबों को चूसने का काम कर रहे हैं। काला-बाजार और रिश्वतखोरी अंधाधुंध फैल गई है। कुछ दिन हुए काले-बाजार और रिश्वतखोरी को नाबूद करने का एक प्रयत्न मैंने किया था। मैंने ऐसी योजना बनाई कि "आईंदा मुझसे अनीति का कोई काम नहीं होगा" ऐसी लिखित प्रतिज्ञा सब लोग करें। इस फार्म पर दस्तखत करवाने के लिए जब मैं समाज के आगेवान पूंजीपतियों के पास जाता तो वे लोग उस पर दस्तखत करने के लिए राजी न होते। ज़ाहिर है कि वे इस बुराई को नाबूद नहीं करना चाहते।

सत्य का शोधन

धार्मिक स्थानों पर आकर लोग धर्म के बारे में बहुत कुछ श्रवण करते रहते हैं। लेकिन आचरण में कुछ नहीं लाते। इससे आज की परिस्थिति उत्पन्न हुई है। इससे हमारा अधःपतन हुआ है। अविश्वास

की निगाह से देखने की वृत्ति पैदा हुई है। मैं चाहता हूँ कि हम लोग सत्य को शोधें—उसकी राह अनुसरें, असत्य को हटाकर सत्यमय संसार का सर्जन करें, मानव-जीवन को पवित्र करें, शुद्ध करें। उसमें जो सडन घुस गया है, उसे दूर करें और ऐसा करने वालों का पूरा साथ दें।

सुखदायक व्यवहार-धर्म

एक बात मुझे बहुत खटकती है। आज कल सभी राजपुरुष प्रजा के हित के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं, लेकिन केवल योजनाओं से प्रजा का हित नहीं होता। जब तक देश के कोने-कोने में अन्न-बिना भूखे तड़पते रहेंगे, वस्त्र-बिना नंगे भटकते रहेंगे, तबतक ऐसी योजनाएँ हमारा कोई भला नहीं कर सकेंगी। गरीब लोग अपने दिन कैसे काटते हैं? हम कहते हैं कि वे काम करना नहीं चाहते। वे आलसी की तरह बैठे रहना चाहते हैं। लेकिन सही देखा जाय तो उनकी शक्ति का, काम करने की ताकत का, गरीबी द्वारा अपहरण हो चुका है। जब तक पेट पालने के लिए पूरा अन्न नहीं मिलता, जीवन में संतोष हो नहीं सकता। बच्चों के लिए दूध की सुविधा नहीं है, तब किस किस्म के धर्म की हम बात करते हैं? इन सब बातों को छोड़ना होगा। काम करने की ताकत पैदा करनी होगी। हमारे कंगाल भाई-बहनों की हालत सुधारने की पूरी कोशिश करनी होगी। यही है व्यवहार-धर्म। और यही अति सुखदायक है। धर्म और व्यवहार भिन्न नहीं है। जब दोनों को एक साथ समझने की कोशिश करेंगे, तभी उन्नति होगी।

कानून की आवश्यकता ही क्यों?

हमारे लोगों का कुछ ऐसा खयाल हो गया है कि महाव्रतों का पालन वही करे, जिसने संन्यास ग्रहण किया है। लेकिन मेरा अपना खयाल तो यह है कि व्रतों की ज्यादह जरूरत गृहस्थियों के लिए है।

इन्सान यदि सत्याचरण करे, 'प्राण जाई बरु, बचन न जाई', की टेक का पालन करे, तो आज कानून कोर्ट-कचहरी की जो आवश्यकता बढ़ गई है, और जिसका हम वृथा गौरव किये जा रहे हैं, उसकी जरूरत ही न पड़े। वास्तव में लज्जाजनक बात तो यह है कि हमारी मनोदशा ही बदल गई है। कानून-कायदे तो उनके लिए होते हैं, जो मानव-धर्म से विपरीत राह चलते हैं। कानून भले सुन्दर हो और उनपर अमल करानेवाले भले ही पंडित हों, उसकी आवश्यकता ही क्या होगी—अगर इन्सान धर्म की राह चले, सच बोले, नित अहिंसा का पालन करे!

अस्तेय और अपरिग्रह

पैसा कमानेवाले अक्सर चोरी ही करते रहते हैं। अनीति की कमाई भी एक तरह की चोरी ही है। मेहनत-मजदूरी करने में चोरी नहीं है, क्योंकि स्वाश्रय में अस्तेय है। मेहनत-मजदूरी करते हुए भी अगर अपेक्षा अधिक कमाने की है तो वह भी चोरी है। जिनमें धार्मिक वृत्ति होगी, उनके जीवन में परिग्रह को स्थान नहीं रहेगा। उसकी आवश्यकताओं की मर्यादा होगी। अस्तेय व अपरिग्रह उन्नति के मार्ग हैं। ज्यादह पैसे मिलाने का लोभ नहीं रखना चाहिए। उसमें व्यक्ति-द्रोह पाप है। व्यवहार में सत्यनिष्ठा के शिक्षण और आचरण की जरूरत है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य पालन भी मानव-धर्म का एक अंग है। हम दलील करते हैं कि प्रजा-निर्माण करने में हम कुदरत के अधीन हैं, लेकिन पशु-पक्षी तो तब तक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, जब तक उनकी संतान खुद के पैरों पर खड़ी नहीं हो जाती। इसी तरह जबतक हमारे बालक सयाने नहीं होते, ब्रह्मचर्य पालन को हमें अपना धर्म समझना चाहिए। अपने बालकों को मनुष्य बनाना हमारा कर्त्तव्य है। उन्हें अच्छे अच्छे संस्कार देना माता-पिता का कर्तव्य है। अब्रह्मचर्य पाल कर हम धर्म या परलोक की बातें करें, यह व्यर्थ है।

पैसा कमाने की लत

पंच-महाव्रतों की योजना संन्यासी के लिए नहीं, गृहस्थाश्रमी के लिए की गई है। उनपर अमल कीजिएगा तो सुखी होइएगा। हरेक के प्रति सद्भाव रखिए। हरेक के साथ सद्वर्तन कीजिए। सच्चा मानव-धर्म यही है। आज इसकी ज़रूरत है। द्रव्य-लोभ की वृत्ति पाप है। हम लोगोंको पैसा कमाने की लत पड़ गई है। इसी वजह से काले बाजार की कमाई अच्छी लगती है। लेकिन इस तरह का धन मिलाने वाले सुखी नहीं होते। वास्तव में सुख धन से मिलता ही नहीं। धर्ममय-जीवन बिताने वाले ही सच्चा सुख प्राप्त कर सकते हैं।

बुद्धि का विनियोग

अनीति का काम न करने की हमें प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। भूल होनेपर प्रायश्चित्त करना चाहिए। यही आजका युग-धर्म है। लेकिन जो अपने को बुद्धिमान समझते हैं वे इतना-सा विचार भी आचरण में नहीं ला सक रहे हैं। बुद्धि का विनियोग तो मानव-जाति की उन्नति के लिए किया जाना चाहिए। लेकिन हमारा जीवन, हमारी कार्यप्रणाली आज एक नाटक की तरह हो गई है। इस तरह दुनिया को भले ही धोखा दे सकें, आत्मा को नहीं दे सकेंगे।

धर्ममय जीवन

सारांश, ज़रूरत इस बात की है कि सच्चे धर्म का विचार करें, सच्ची राह चलें, जीवन को विमल बनाएँ, परिशुद्ध करें, स्वावलंबी करें। दूसरों की मेहनत पर जीनेका व्यर्थ आभास त्याग दें। वस्त्र के बारे में भी स्वावलंबी बनें, कपड़ा खुद तैय्यार करें। जीवन धर्ममय बनाएँ—फैशनमय नहीं।

भगवान से प्रार्थना है कि वह सबको सच्चा धर्म समझनेकी सद्बुद्धि प्रदान करें।

: २ :

शास्त्र-दृष्टि की मर्यादा

किशोरलाल घ. मशरूवाला

मैंने अपनी 'व्यवहार्य-अहिंसा' लेखनमाला में यह लिखा था कि "दुनिया के सब देशों और धर्मों में 'भद्र' और 'सन्त' ऐसी दो बुनियादी संस्कृतियाँ प्राचीन काल से चली आई हैं। हमारा देश भी इस बारे में अपवादरूप नहीं है।" जहाँ तक मुझे पता है, भद्र शब्द किसी भाषा में अनादरसूचक नहीं है। मैंने जिस संस्कृति का भद्र नाम से परिचय कराया उसके लिए मेरे दिल में अनादर नहीं है। यह प्रकट करने के लिए ही मैंने उसे भद्र कहा है। भद्र-संस्कृति ने भी मानव-समाज में बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं, यह बात भी मैंने अपनी लेखमाला में कबूल की है। फिर भी भद्र-संस्कृति की एक मर्यादा है, जिससे ऊपर वह उठ नहीं सकती। यदि वह उस मर्यादा से ऊपर उठ जाय तो सन्त-संस्कृति में परिणत हो जायगी। भद्र-संस्कृति से जो ऊपर उठते हैं, वे ही सन्त हैं।

मेरे इस कथनपर 'सिद्धान्त' साप्ताहिक के विद्वान संपादक ने आपत्ति की है। (देखिए १० जून १९४१ का अंक) आप लिखते हैं, "जिन्हें दो बुनियादी संस्कृतियाँ बतलाया गया है, वे वास्तव में परस्पर विरोधी नहीं हैं। इन दोनों का मूल, इन दोनों का आधार एक ही है और वह है धर्मशास्त्र।"

दुनिया के सभी मजहबों के शास्त्रियों की राय में उनका अपना धर्मशास्त्र ही परम और अंतिम प्रमाण होता है। 'नामूलं लिख्यते किंचित्'

यह उनकी प्रतिज्ञा होती है। याने उनका यह आग्रह होता है कि किसी भी वस्तु को उचित या अनुचित ठहराने के लिये अपने धर्मशास्त्र से कोई-न-कोई प्रमाण खोज कर निकालना ही चाहिए। अगर ऐसा आधार न मिले, तो वह चीज़ मान्य नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही बुद्धिग्राह्य और हृदयग्राह्य क्यों न हो।

लेकिन ऐसी परिस्थिति में बुद्धि अपनी हार मंजूर करना ज्यादा वक्त तक बर्दाश्त नहीं करती। वह कोई-न-कोई रास्ता निकालने की फिक्र में रहती है। शास्त्र से जकड़ी हुई बुद्धि उसके बन्धन को तोड़कर आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं करती। लेकिन शास्त्र-वचनों के नये-नये भाष्य लिखने की हिम्मत कर लेती है। किसी-न-किसी तरह से पुराने वाक्यों में से अपने अनुकूल नए अर्थ निकाल लेती है और फिर ऐसा प्रतिपादन करती है कि वह चीज़ शास्त्र-सम्मत ही है।

इस प्रकार वे ही श्रुतिवचन और स्मृतिवचन निरीश्वरवादी सांख्यों तथा अद्वैत, द्वैत एवं विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों और मीमांसकों के लिए आधारभूत होते हैं। वे ही श्रुति-स्मृतियाँ अस्पृश्यता—स्वीकार और निवारण दोनों मतों के विद्वान शास्त्रियों के लिए प्रमाणभूत होती हैं। यावत्‌जीवन वैधव्य और विधवा-विवाह, कायम-विवाह और तलाक, मांसाहार और मांस-निषेध, पशु-यज्ञ और औषधि-यज्ञ, आदि परस्पर—विरोधी विचार रखनेवाले शास्त्री धर्मशास्त्र के आधार पर ही अपने अपने मतों का समर्थन करते हैं।

कोई ऐसा न समझे कि यह बात हमारे ही देश में या सिर्फ हिन्दू-धर्म में ही होती है। कुरान या बाइबिलवादी शास्त्रियों का भी यही रवैया है। बाइबिल का हवाला देकर गुलामी की प्रथा का समर्थन और विरोध करनेवाले बड़े-बड़े पादरी थे। किसी मौलवी की क्या मज़ाल है कि वह कुरान से परे होकर विचार करने की गुस्ताखी करे। ऐसी हालत में

अगर किसी बात का समर्थन या निषेध करना हो, तो कुरान अथवा धर्म-शास्त्रों के वचनों को अपने अनुकूल व्याख्या करके ही किया जा सकता है। इस विचार-धारा को माननेवाले धर्मशास्त्री की दृष्टि में कोई व्यक्ति सिर्फ सन्त नहीं माना जा सकता कि हमने अपने अनुभव से उसे बहुत ही नेक पाया है, वरन् इसलिए कि वैसे पुरुष को सन्त मानने के लिए धर्मशास्त्र में प्रमाण मौजूद हैं। नतीजा यह है कि वैदिक धर्म के शास्त्रियों की दृष्टि में एक जैन महात्मा सन्त पुरुष नहीं हो सकता; क्योंकि वह नास्तिक है। उसी तरह वेद-धर्म में पला हुआ एक व्यक्ति कितना ही साधु-स्वभाव क्यों न हो, जैन-दृष्टि में वह सन्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह मिथ्या-दृष्टि में पला हुआ है। और न कोई हिन्दू महात्मा इस्लाम या ईसाई-धर्म की दृष्टि में सत्पुरुष ही हो सकता है; क्योंकि वह उनके पैगंबरों का अनुगामी नहीं है।

जब शास्त्रों का आश्रय करने की दृष्टि इस हद तक पहुँच जाती है, तब तक मेरी नम्र राय में शास्त्र से दृष्टि प्राप्त होने के बदले अन्धत्व प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि प्रखर सूर्य की किरणों की तरफ ताकते रहने से प्राप्त होता है।

कई शास्त्र-ग्रंथ अवश्य ही आदरणीय हैं। लेकिन वे इसलिए आदरणीय नहीं हैं कि शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं बल्कि इसलिए कि वे किसी-न-किसी सत्पुरुष द्वारा लिखे हुए माने जाते हैं।

आदि सत्पुरुष का निर्माण किसी शास्त्र द्वारा नहीं हुआ है। बल्कि आदि सत्पुरुषने ही किसी-न-किसी शास्त्र का निर्माण किया है। और दुनिया के सभी शास्त्र-ग्रंथ निःशेष हो जायँ, तो भी दुनिया में सत्पुरुष होते ही रहेंगे और नए-नए शास्त्रों का निर्माण होता रहेगा। यदि किसी शास्त्रने किसी सत्पुरुष का बहुमान किया या उसके व्यवहार को मान्य

किया तो, उसने उस सत्पुरुष पर मेहरबानी नहीं की बल्कि अपनी ही कीमत बढ़ायी।

किसी शास्त्र को माननेवाला व्यक्ति उस शास्त्र से बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। सर जगदीशचंद्र बसु या सर चंद्रशेखर रामन जैसा कोई प्रथम श्रेणी का वैज्ञानिक जब किसी दूसरे वैज्ञानिक के ग्रंथ का आदर करे या उसका हवाला दे, तब वह उस ग्रंथ में लिखी हुई बात को इसीलिए नहीं मानता है कि वह उस ग्रंथ में पायी जाती है, बल्कि इस बुद्धि से कि दूसरे वैज्ञानिकों का अनुभव भी उसके अनुभव की ताईद करता है। लेकिन विज्ञान के साधारण पण्डित जिन्हें अपना निज का कोई अनुभव नहीं है वे केवल उस ग्रंथ के आधार पर ही उस बात को स्वीकारते हैं, इसलिये उसका प्रमाण देते हैं। यही बात धर्मशास्त्रों पर भी लागू होती है। श्री ज्ञानेश्वर ने अमृतानुभव में एक जगह अपना मत बतला कर आगे लिखा है—"और यही शिवगीता तथा भगवत्गीता का भी मत है। लेकिन ऐसा न माना जाय कि शिव या श्रीकृष्ण के वचनों के आधार पर ही मैंने अपना मत बनाया है। उनके ऐसे वचन न होते तो भी मैं यही कहता।"

तुलसीदास और रामदास, नामदेव और तुकाराम, नानक और कबीर ये सभी असल में वैदिक परम्परा में पले हुए सन्त थे। लेकिन तुलसीदास और रामदास ने शास्त्रों का जितना बन्धन माना, उतना नामदेव और तुकाराम ने नहीं माना और नानक और कबीर तो उसको पार ही कर गए। सन्तों की पहली पीढ़ी मध्य-संस्कृति में पली हुई थी और आखिर तक किसी-न-किसी रूप में उस से संलग्न रही। फिर भी तुलसीदासजी के राम और वाल्मीकि के राम में कितना अंतर है! तुलसीदासजी अपने राम के द्वारा शम्बुक का वध न करा सके और न उनसे अस्पृश्यता तथा पंक्ति-भेद के नियमों का पालन करा सके। रामदास

इस ऊंचाई तक नहीं पहुँच सके। नामदेव, तुकाराम तो सन्तेतर ही थे। नानक और कबीर ने सांप्रदायिक शास्त्रों का सहारा ही छोड़ दिया; केवल उनके सार को ही अपनाया।

और शास्त्रों का अन्तिम प्रमाण मानने पर भी मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि चलाने से कहाँ मुक्त होता है? एक ही शास्त्र के तीन भाष्यकार तीन अर्थ निकालें, जो परस्पर विरोधी हों, तो हरएक आदमी को अपनी निज की या किसी गुरु की विवेक-बुद्धि से काम लेकर एक का स्वीकार और दूसरे का त्याग करना ही पड़ता है। मांसाहारी और मूर्ति-पूजक को भी शास्त्रप्रमाण मिल जाता है तथा मांस-वर्जन और मूर्ति-निषेध के लिए भी प्रमाण मौजूद हैं। हरएक अपनी अपनी रुचि, संस्कार या विवेक-बुद्धि के अनुसार अपने लिये एक चीज़ को ग्राह्य और दूसरी को अग्राह्य मानता है। मतलब यह कि हमारी अपनी या हमारे माने हुए किसी गुरु अथवा सत्पुरुष की विवेक-बुद्धि ही अमुक का अस्वीकार या न्यूनस्वीकार करती है।

सारांश, शास्त्र के निर्माता विद्वान या सन्त होते हैं। विद्वान या सन्त का निर्माता शास्त्र नहीं होता। विद्वान अपनी बुद्धि की कुशलता के बलपर विद्वान है; सन्त अपने हृदय की उन्नत अवस्था पर सन्त है। सन्त को देखने के बाद ही किसी शास्त्रकार ने सन्त के लक्षण बतलाये हैं। मूल आधार पुरुष है, न कि ग्रंथ। शास्त्रों की मर्यादा को समझकर अगर हम उनका अध्ययन करें, तो वे हमारे जीवन में सहायक हो सकते हैं। नहीं तो वे जीवन पर भाररूप हो जाते हैं और फिर न कबीर जैसों को ही, वरन् ज्ञानेश्वर सरीखों को भी उनकी अल्पता बतलानी पड़ती है।

: ३ :

परम सांख्य

जैनेंद्रकुमार

आदमी ने जबसे अपने होने को अनुभव किया तभी से यह भी पाया कि उसके अतिरिक्त शेष भी है। उसकी अपेक्षा में वह स्वयं क्या है और क्यों है? अथवा कि जगत् ही उसकी अपेक्षा में क्या है और क्यों है? दोनों में क्या परस्परता और तरतमता है?—द्वैत-बोध के साथ ये सब प्रश्न उसके मन में उठने लगे।

प्रश्न में से प्रयत्न आया। आदमी में सतत प्रयत्न रहा कि प्रश्नको अपने में हल कर ले। पर हर उत्तर नया प्रश्न पैदा कर देता रहा और जीवन, अपनी सुलझन में और उलझन में, इसी तरह बढ़ता रहा।

सत्य यदि है तो आकलन में नहीं जमेगा। ऐसे सत्य सांत और जड़ हो जायगा। जिसका अन्त है, वह और कुछ हो, सत्य वह नहीं रहता।

पर मनुष्य अपने साथ क्या करे? चेष्टा उससे छूट नहीं सकती। उसके चारों ओर होकर जो है, उससे निरपेक्ष बनकर वह जी नहीं सकता। प्रत्येक व्यापार उसे शेष के प्रति उन्मुख करता है। वह देखता है तो वर्ण, सुनता है तो शब्द, छूता है तो वस्तु। इस तरह हर क्षणके हर व्यापार में वह अनुभव करता है कि कुछ है, जो वह नहीं है। वह अन्य है और अज्ञात है। प्राप्त है और अप्राप्त है। यदि सत्य है तो हर पल बन-मिट रहा है। यदि माया है तो हर क्षण प्रत्यक्ष है।

अपने साथ लगे इस शेष के प्रति मनुष्य की कामना और कौतुक, उसकी जिज्ञासा और जिघांसा, कभी भी मन्द नहीं हुई है। आदमी ने

चाहा है कि वह सबको अपनी समझ में मिला ले, या समझ से मिटा दे। किसी तरह सब में, या सब से वह मुक्त हो। उसके अपने आत्म के बाहर वह जो अनात्म है, उसकी स्वीकृति से, सत्ता से, परता से किसी तरह वह उत्तीर्ण हो जाये। या तो उसे बाँध कर वश में कर ले, या तर्क के ज़ोर से गायब कर दे, या नहीं तो फिर अपने को ही उसमें खो दे। अनात्म के मध्य आत्म अवरुद्ध है। या तो परत्व मिटे या सब स्व-गत हो, या फिर स्वत्व ही मिट जाय।

अपने चारों ओर के नाना रूपाकार जगत् को मनुष्य ने चाहा कि पा ले, पकड़ ले, और ठहराकर अपनेमें ले ले। सत्य को अपने से पर रहने दे कर वह चैन से नहीं जी सका। छटपटाता ही रहा कि उसे स्वकीय करे।

इस मुक्ति की या पूर्णता की अकुलाहट में मनुष्य ने नाना धर्मों, साधनाओं और दर्शनों को जन्म दिया।

मुक्ति की ओर का प्रयत्न जब मनुष्य का सर्वांगीण और पूर्ण प्राण-पण से हुआ तब दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ। तब व्यक्तित्व को ही परिष्कार मिला। सीमाएँ मिट कर उसमें समष्टिकी विराटता आई। दर्शन तब उससे स्वतः फूटा। धर्मों के आदि स्रोत ऐसे ही पुरुष हुए। उन्होंने दर्शन दिया नहीं। देने को उनके पास अपनी आत्मरूपता ही रही। परिणाम में वे एकसाथ सब दर्शनों के लिये सुगम और अगम बन गये।

दर्शन बनता और मिलता है तब जब प्राणों की विकलता की जगह बुद्धि की तीव्रता से प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट ही वह प्रयत्न अविकल न होकर एकांगी होता है। इसमें व्यक्ति, 'असल नहीं उसकी तस्वीर' ही पाता है। इस तरह स्वयं (सत्य का) प्रकाश नहीं होता या प्रकाश

देता, बल्कि, शब्दों अथवा तर्कों के संयोजन द्वारा उस अप्रकाशनीय सत्य का वर्णन देता है।

अतः दर्शनकार वे हैं जो सत्य जीते नहीं, जानते हैं। जीने द्वारा सत्य सिद्ध होता है। वैसा सत्य जीवनको भी सिद्धि देता है। पर जानने द्वारा सत्य सीमित होता है और ऐसा सत्य जीवन को भी सीमा देता है।

जीवन में से धर्म प्राप्त होता है। प्रयत्न में से दर्शन।

यह दर्शन भी द्विविध। एक सीधा देखा गया। दूसरा अनुमाना गया। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों में अधिकांश यह अन्तर है। पहले आदर्श की एकता से यथार्थ की अनेकता पर उतरते हैं। दूसरे तत्की विविधता से आरम्भ करके तर्कशः शिखर की एकता की ओर उठते हैं।

प्राच्य दर्शनों का आरम्भ इसीसे ऋषियों से होता है, जो जानने से अधिक साधते थे। यहाँ के दर्शनों की पूर्व-पीठिका है उपनिषद्, जो काव्य हैं। उनमें प्रतिपादन अथवा अंकन नहीं है। उनमें केवल अभिव्यंजन और गायन है।

हृदय द्वारा जब हम निखिल को पुकारते और पाते हैं तब शब्द अपनी सार्थकता का अतिक्रमण करके छंद और लय का रूप ले उठते हैं। तब उनमें से बोध और अर्थ उतना नहीं प्राप्त होता, जितना चैतन्य और स्पन्दन प्राप्त होता है। वे बाहर का परिचय नहीं देते, भीतर एक स्फूर्ति भर देते हैं।

किन्तु सबुद्धि मानव उसे अखंड रूप से अनुभूति में लेकर स्वयं अभिभूत हो रहने से अधिक उसे शब्द में नाप-आंक कर लेना चाहता है। ऐसे सत्य उसका स्वत्व बन जाता है। शब्द में नपतुल कर वह मानों संग्रहणीय और उपयोगी बनता है। उसे अंकों में फैलाकर हम अपना हिसाब चला सकते हैं और विज्ञान बना सकते हैं।

शिशु ने ऊपर आसमान में देखा और वह विह्वल हो रहा। शास्त्री ने धरती पर नकशा खींचा और उसके सहारे आकाश को ग्रह-नक्षत्रों में बाँट कर उसने अपने काबू कर लिया।

शब्दों का और अंकोंका यह गणित हुआ आयुध जिससे बौद्धिक ने सत्य को कीलित करके वश में कर लिया। असंख्य को संख्या दे दी, अनन्त को परिमाण दे दिया, अछोर को आकार पहनाया और जो अनिर्वचनीय था शब्दों द्वारा उसी को धारणा में जड़ लिया।

उद्भट बौद्धिकों का यह प्रयत्न तपस्वी साधकों की साधना के साथ-साथ चलता रहा।

मेरा मानना है कि जैन 'धर्म' से अधिक 'दर्शन' है, और वह दर्शन परम सांख्य और परम बौद्ध है। उसका आरम्भ श्रद्धा एवं स्वीकृति से नहीं, पश्चिम के दर्शनों की भाँति तर्क से है। सम्पूर्ण सत्य को शब्द और अंक में बिठा देने की स्पर्धा यदि किसी ने अटूट और अथक अध्यवसाय से की तो वह जैन-'दर्शन' ने। वह दर्शन गणित की अभूतपूर्व विजय का स्मारक है।

जगत् अखंड होकर अज्ञेय है। जैन-तत्त्व ने उसे खंड-खंड करके सम्पूर्णता के साथ ज्ञात बना दिया है।

"जगत् क्या है?"

चेतन-अचेतन का समवाय।

"चेतन क्या है?"

हम सब जीव।

"जीव क्या है?"

जीव है आत्मा। असंख्य जीव सब अलग-अलग आत्मा हैं।

"अचेतन क्या है?"

मुख्यता से वह पुद्गल है।

"पुद्गल क्या है?"

वह अणुरूप है।

"पुद्गल से शेष अजीवतत्त्व क्या है?"

काल, आकाश आदि।

"काल क्या है?"

वह भी अणुरूप है।

"आकाश क्या है?"

अनन्त प्रदेशी है।

"आदि क्या?"

"चलना ठहरना जो दीखता है, उसके कारण रूप तत्त्व इस आदि में आते हैं।"

इस तरह सम्पूर्ण सत्ता को, जो एक ओर इकट्ठी होकर हमारी चेतना को अभिभूत कर लेती है, अनन्त अनेकता में बाँट कर मनुष्य की बुद्धि के मानो वशीभूत कर दिया गया है। आत्मा असंख्य हैं, अणु असंख्य और अनन्त हैं। उनकी अपनी सत्यता मानो सीमित और परिमित है। यह जो अपरिसीम सत्ता दिखाई देती है, केवल-मात्र उस सीमित सत्यता का ही गुणानुगुणित रूप है।

जैन-दर्शन इस तरह शब्द और अंक के सहारे उस भीति को और विस्मय को समाप्त कर देता है, जो व्यक्ति सीधी आँखों इस महाब्रह्मांड को देखकर अपने भीतर अनुभव करता है। उसी महापुलक, विस्मय और भीति के नीचे मनुष्य ने जगत्-कर्त्ता, जगद्धर्त्ता, परमात्मा, परमेश्वर आदि रूपों की शरण ली है। जैन-दर्शन उसको मनुष्य के निकट अनावश्यक बना देना चाहता है। परमात्मत्व को इसलिए उसने असंख्य जीवों में बखेर कर उसका मानो आतंक और महत्त्व हर लिया है। ब्रह्मांड की

महामहिमता को भी उसी प्रकार पुद्गल के अणुओं में छितरा कर मानों मनुष्य की मुट्ठी में कर देने का प्रयास किया है।

जैन-दर्शन की इस असीम स्पर्धा पर कोई कुछ भी कहे, पर गणित और तर्क-शास्त्र के प्रति उसकी ईमानदारी अपूर्व है।

मूल में सीधी मान्यताओं को लेकर उसी आधार पर तर्क-शुद्ध उस दर्शन की स्तूपाकार रचना खड़ी की गई।

मैं हूं, यह सबुद्धि मनुष्य का आदि सत्य है। मैं क्या हूं ? निश्चय हाथ-पाँव आदि अवयव नहीं हूं, इस तरह शरीर नहीं हूं। जरूर, कुछ इससे भिन्न हूं। भिन्न न होऊँ तो शरीर को मेरा कहने वाला कौन रहे ? इससे मैं हूं आत्मा।

मेरे होने के साथ तुम भी हो। तुम अलग हो, मैं अलग हूँ। तुम भी आत्मा हो और तुम अलग आत्मा हो। इस तरह आत्मा अनेक हैं।

अब शरीर मैं नहीं हूँ। फिर भी शरीर तो है। और मैं आत्म हूँ। इससे शरीर अनात्म है। अनात्म अर्थात् अजीव, अर्थात् जड़।

इस आत्म और अनात्म, जड़ और चेतन के भेद, जड़ की अणुता और आत्मा की अनेकता—इन प्राथमिक मान्यताओं के आधार पर जो और जितना कुछ होता हुआ दीखता है, उस सबको जैन-तत्त्व-शास्त्र ने खोलने की और कारण-कार्य की कड़ी में बिठाने की कोशिश की है। इस कोशिश पर युग-युगों में कितनी मेधा-बुद्धि व्यय हुई है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। वर्तमान में उपलब्ध जैन-साहित्य पर्वताकार है। कितना ही प्रकाश में नहीं आया है। उससे कितने गुना नष्ट हो गया, कहना कठिन है। इस समूचे साहित्य में उन्हीं मूल मान्यताओं के आधार पर जीवन की और जगत् की पहेली की गूढ़ से गूढ़ उलझनों को सुलझाया गया और भाग्य आदि की तमाम अतर्क्यताओं को तर्क-सूत्र में पिरोया गया है।

आत्म और अनात्म यदि सर्वथा दो हैं तो उनमें संबंध किस प्रकार होने में आया—इस प्रश्न को बेशक नहीं छुआ गया है। उस सम्बन्ध के बारेमें मान लेने को कह दिया गया है कि वह अनादि है। पर उसके बाद अनात्म, यानी पुद्गल, आत्म के साथ कैसे, क्यों, कब, किस प्रकार लगता है, किस प्रकार कर्म का आस्रव होता है, बन्ध होता है, किस प्रकार कर्म-बन्ध फल उत्पन्न करता है, आदि-आदि की इतनी जटिल और सूक्ष्म विवेचना है कि बड़े-से-बड़े अध्यवसायी के छक्के छूट जा सकते हैं।

फिर उस कर्म-बन्ध की निर्जरा यानी क्षय किस प्रकार होगा, आस्रव (आने) का संवर (रुकना) कैसे होगा और अन्तमें अनात्म से आत्म पूरी तरह शुद्ध होकर कैसे बुद्ध और मुक्त होगा, इसकी पूर्ण प्ररूपणा है।

इतना ही नहीं, जैन-शास्त्र आरम्भ करके रुकता अन्त से पहले नहीं। मुक्त होकर आत्मा लोक के किस भाग में, किस रूप में, किस विधि रहता है, इसका भी चित्र है।

संक्षेप में वह सब जो रहस्य है, इससे खींचता है; अज्ञात है, इससे डराता है; असीम है, इससे सहमाता है; अद्भुत है, इससे विस्मित करता है; अतर्क्य है, इससे निरुत्तर करता है—ऐसे सब को जैन शास्त्र ने मानों शब्दों की और अंकों की सहायता से वशीभूत करके घर की साँकल से बाँध लिया है। इसी अर्थ में मैं इस दर्शन को परम बौद्ध और परम सांख्य का रूप मानता हूँ। गणना-बुद्धि की उसमें पराकाष्ठा है। उस बुद्धि के अपूर्व अध्यवसाय और स्पर्धा और प्रागल्भ्य पर चित्त सहसा स्तब्ध हो जाता है।

['प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ' से]

: ४ :

सेवा का आचारधर्म

आचार्य विनोबा का एक प्रवचन

ॐ सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्‌विषावहै ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

मेरे भाइयो और बहनो,

शान्तिमंत्र और भोजन का संबंध

आज मैंने अपने भाषण का आरम्भ जिस मंत्र से किया है वह मंत्र हमारे देश के लोग शाला में अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे। यह मंत्र गुरु और शिष्य को मिलकर कहने के लिए है। "परमात्मा हम दोनों का एकत्र रक्षण करे। एकत्र पालन करे। हम दोनों जो कुछ सीखें वह, हम दोनों की शिक्षा तेजस्वी हो। हम दोनों में द्वेष न रहे; और सर्वत्र शान्ति रहे।" ऐसा इस मंत्र का संक्षेप में अर्थ है। आश्रम भोजन के प्रारंभ में यही मंत्र पढ़ा जाता है। अन्यत्र भी भोजन शुरू करते समय इसे पढ़ने का रिवाज है। "इस मंत्र का भोजन से क्या संबंध है?" ऐसा सवाल एक बार बापू से पूछा गया था। उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्र में उसका विस्तार से उत्तर दिया है। वही मैं थोड़े में यहां भी कहनेवाला हूं।

समाज के दो भागों का सहजीवन

इस मंत्र में समाज को दो भागों में बांटा गया है; और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनों का एकत्र रक्षण करे। भोजन

के समय इस मंत्र का उच्चार जरूर करना चाहिए, क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरने के लिए ही नहीं है। वह ज्ञान और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए है। इतना ही नहीं, इस में यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और भोजन भगवान् एकत्र कराए। इस में केवल पालन की प्रार्थना है। शाला में जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवार में पुरानी और नई पीढ़ी, समाज में स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उस में फिर गरीब अमीर का भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद नजर आता है। हमारे इस हिन्दुस्थान में तो असंख्य भेद हैं। यहाँ प्रांतभेद है। यहाँ का स्त्रीवर्ग बिलकुल अलग रहता है। इसलिए यहाँ स्त्री और पुरुष में भी बहुत बड़ा भेद है। हिन्दू और मुसलमानों का भेद तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु हिन्दु-हिन्दुओं में भी हरिजन और दूसरों में भेद है। इस प्रकार हिन्दुस्थान में अपार भेद भरे हुए हैं। हिन्दुस्थान की तरह वे संसार में भी हैं। इसलिए इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हमें "एकत्र तार, एकत्र मार।" मारने की प्रार्थना प्रायः कोई करता नहीं। इसलिए यहाँ एकत्र तारने की ही प्रार्थना है। लेकिन 'यदि तुझे मारना ही हो, तो कम से कम एकत्र मार' ऐसी प्रार्थना है। सारांश "हमें दूध देना है तो एकत्र दे, सूखी रोटी देना है तो भी एकत्र दे हमारे साथ जो कुछ करना है वह एकत्र कर" ऐसी प्रार्थना इस मंत्र में है।

यह भेद दूर कैसे हो ?

आज हिन्दुस्थान में एक बात सब के जीभ पर है। सभी कहते हैं कि यह भेद जितना कम करोगे उतना ही देश आगे बढ़ेगा। देहात के लोग, याने किसान या शहराती, गरीब और श्रीमान्, इनका अन्तर जितना कम होगा उतना ही देश का कदम आगे बढ़ेगा। इसके विषय में शायद ही किसी का मतभेद हो। लेकिन तो भी यह भेद, यह अन्तर,

कम नहीं होता। अंतर दो तरह से काटा जा सकता है। ऊपरवालों के नीचे उतरने से और नीचेवालों के ऊपर उठने से। परंतु दोनों ओर से यह नहीं होता। हम सेवक कहाते हैं। लेकिन किसान—मजदूरों की तुलना में तो चोटी पर ही हैं। दादाने कल अपने व्याख्यान में कहा—मैं उनके शब्द नहीं दुहरा रहा हूं, उनका भावार्थ कह रहा हूं—कि वे भोग और ऐश्वर्य भी चाहते हैं। भोगों की जरूरत है या नहीं, इस विवाद में पड़ने की यहाँ जरूरत नहीं।

भोग ऐश्वर्य किसे कहें ?

लेकिन सवाल यह है कि भोग और ऐश्वर्य कहे किसे ? मैं अच्छा सुग्रास भोजन करूं और पड़ोस में ही दूसरा भूखों मरता रहे, इसे ? उसकी नजर बराबर मेरे भोजन पर रहे और मैं उसकी परवाह न करूं ? उसके आक्रमण से अपनी थाली की रक्षा करने के लिये एक डंडा लेकर बैठूं ? मेरा सुग्रास भोजन और डंडा तथा उसकी भूख—क्या इन्हें ऐश्वर्य मानें ? एक सज्जन मुझसे आकर कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं। परंतु हमारी निभ नहीं सकती।" मैंने पूछा, "सो क्यों ?" उन्होंने जवाब दिया "मैं नारंगिया खाता हूं। वे नहीं खाते। वे मजदूर हैं। इसलिए वे नारंगियाँ खरीद नहीं सकते। इसलिए उनके साथ खाना मुझे अप्रशस्त लगता है। मैंने पूछा "लेकिन क्या अलग घर में रहने से उनके पेट में नारंगियाँ चली जायंगी। आप दोनों में जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जब तक दोनों साथ खाते हो तब तक दोनों के निकट आने की संभावना है। एकाध बार तुम उसे नारंगियाँ लेने का आग्रह भी करोगे। लेकिन यदि तुम दोनों के बीच सुरक्षितता की दीवाल खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवाल को सुरक्षितता का साधन मानना कैसा भयंकर है। हिन्दुस्थान में हम सब कहते हैं, हमारे संतो ने तो पुकार पुकार कर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी

है। फिर भी दीवाल की ओट में छिपने से क्या फायदा? इससे दोनों का अंतर थोड़े ही घटेगा।

सेवकों का भी यही हाल

यही हाल हम खादीधारियों का भी है। जनता के अंदर अभी खादी का प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी हैं वे सब सेवक ही हैं। खादीधारियों का सम्मेलन सेवक वर्ग का मेला ही है। यह कहा जाता है कि हमें और आप को गांवों में जाना चाहिए। लेकिन देहात मे जाने पर भी वहाँ के लोगों को जहां सूखी रोटी भी नहीं मिलती तहा मैं पूड़ी खाता हूं। मेरा घी खाना उस भूखे को खटकता है। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर मिल जाय तो तेरे घी की मुझे ईर्षा नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी तसल्ली है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो, लेकिन हम सेवकों को बहुत अखरना है। लेकिन, इस तरह कब तक चलता रहेगा। परसाल मैं एक अच्छा दुबला-पतला जीव था, इस साल मुटिया गया हूं। मुझे यह मुटापा बहुत खटकता है। मैं भी उन्हीं लोगों जैसा दुबला-पतला हूं यह संतोष अब जाता रहा। पहले मेरे गाल उनके जैसे चिपके थे। अब तो मेरे शरीर पर सुर्खी छा गई है।

देहाती रहन सहन में सुधार

यहा टंगी हुई एक तख्ती पर लिखा है कि आवश्यकताएँ बढ़ाते रहना सभ्यता का लक्षण नहीं है बल्कि आवश्यकताओं का संरक्षण सभ्यता का लक्षण है। तो भी मैं कहता हूं कि देहातियों की आवश्यकताएँ बढ़नी चाहिए। वे सुधारनी भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएँ आज तो पूरी ही नहीं होती। उनका रहन-सहन बिलकुल गिरा हुआ है। उनके जीवन का मान बढ़ना चाहिए। मोटे हिसाब से तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियों की आवश्यकताएँ बढ़नी चाहिए।

मछुओं का दृष्टान्त

योगशास्त्र में मैंने पढ़ा है कि जो अहिंसक है उसके आसपास हिंसा नहीं होती। मेरा इस वचन पर पूरा पूरा विश्वास है। लेकिन मैं अपनी आंखों के सामने नित्य क्या देखता हूं? पवनार में मेरे घर के सामने धाम नदी है। भागवतजी को मैंने वहाँ बुलाया है। वे ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण को अल्प-आहार और भरपूर स्नान से संतोष है। वह मैं उन्हें वहाँ दे सकता हूं।

हां, तो मैं कह रहा था कि उस नदी पर मैं एक दूसरा दृश्य भी देखता हूं। मछुए रोज वहां असंख्य मछलियाँ मारते हैं। मछुए परम उद्योगी हैं। उनके समान उद्योगी दूसरा कोई नहीं। सबेरे से शाम तक मछली मारने का उनका उद्योग बराबर चलता रहता है। और जब मछली नहीं मारते तो रास्ता चलते हुए भी अपना जाल गूंथते रहते हैं। मेरी आँखों के सामने यह हिंसा चलती रहती है। मैं सोचता हूं कि मैं भी कैसा योगी हूँ।

मछुओं की व्यवसाय निष्ठा

एक दिन दगडू (मेरा साथी) नंगे सिर और नंगे बदन नहाने गया। मछुओं ने गिडगिडाकर उससे कहा, "महाराज, हमारे पेट पर न मारो!" वह आश्चर्य से पूछने लगा, "मैंने क्या किया, जिससे तुम्हारा पेट मारा गया?" वे बोले, "तुम नंगे सिर आए। असगुन हो गया। अब मछलियाँ पकड़ी नहीं जा सकेंगी। ऐसी करनी न करो महाराज।" उनकी ऐसी भावना है। वे हमारी अपेक्षा किसी कद्र कम नहीं। उनकी दृष्टि से तो वे ईश्वर-स्मरणपूर्वक ही मछलियाँ मारते हैं। मैं उन्हें किस मुंह से कहूं कि, 'तुम मछलियाँ मत मारो!' क्या उनसे गणपतराव की दूकान से तेल खरीदने को कहूँ? वे कहेंगे उसके लिए पैसे देने पड़ते हैं। मछलियों से वह यों ही मिल जाता है।

वृत्ति परिवर्तन की आवश्यकता

मेरा मतलब यह है कि यदि हम गांवों में जाकर बैठे हैं तो हमें इसके लिए जोरों की कोशिश करनी चाहिए कि देहातों का रहन सहन कैसा ऊपर उठेगा और हमारा कैसे उतरेगा। लेकिन हम ज़रा-ज़रासी बातें भी तो नहीं करते। महीना हुआ, मेरे पैर में चोट लग गई है। किसी ने कहा उसे मरहम लगाओ। मरहम मेरे मुकाम पर आ भी पहुंचा। किसीने कहा मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर मिट्टी के ही वर्ग के तो हैं। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिलकुल अच्छा नहीं हुआ है। लेकिन अब मजे में चल सकता हूँ। कल पवनार से यहाँतक चलकर आया और वापस भी पैदल ही गया। हमें मरहम जल्दी याद आएगा, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझेगा। उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं। यहाँ अभी यज्ञोपवीत की विधि हुई। यज्ञोपवीत सूर्य को दिखाकर धारण करना चाहिए। 'सूर्याय दर्शयित्वा'। यहाँ यह हुआ या नहीं मुझे पता नहीं। (पुरोहितजी से) कहिये यहाँ 'सूर्याय दर्शयित्वा' हुआ कि नहीं? (पुरोहितजी बोले) जी हां। हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखाने की हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्य के सामने अपना शरीर खुला करो। तुम्हारे सारे रोग भाग जायेंगे। लेकिन हम अपनी आदत से और शिक्षा से लाचार हैं। डॉक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक हो गया तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरतें किस तरह कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहाँ संन्यासी का धर्म नहीं बतला रहा हूँ। खासा गृहस्थ का धर्म बतला रहा हूँ। ठंडी अबोहवा वाले देशों के डॉक्टर कहते हैं कि उन्हें 'कॉड लिव्हर ऑइल' दो। जहाँ सूर्य नहीं है ऐसे देशों में (अनसनी क्लायमेट में) दूसरा चारा ही नहीं है। कॉड लिव्हर के बिना

बच्चे गुदगुदे नहीं होंगे। यहाँ सूर्य-दर्शन की कमी नहीं। यहाँ यह महा 'कॉड लिव्हर ऑइल' भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। ऐसी हमारी दशा है। हमें लंगोटी पर शर्म आती है। छोटे बच्चों पर भी हम कपड़े की बाईण्डिंग (जिल्द) चढ़ाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यता का लक्षण माना जाता है। वेदों में प्रार्थना की गई है कि,

"मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः।"

"हे ईश्वर, मुझे सूर्यदर्शन से दूर न रख!" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुले शरीर से रहो। कपड़े की जिल्द में कल्याण नहीं। हम अपने आचार से यह विनाशक चीज़ गावों में दाखिल न करें। हम देहात में जाने पर भी अपने बच्चों को आधी या पूरी लंबाई की पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चों का कल्याण तो है ही नहीं, बल्कि एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चों में और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगों को भी अपने बच्चों को सजाने का शौक होता है। एक फजूल की जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातों में जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह एक पहलू से विचार हुआ।

भारत का महारोग

देहातों की आमदनी बढ़ाना इस विचार का दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढ़ाई जाय? हममें आलस बहुत है। वह महान् शत्रु है। एक का विशेषण दूसरे को जोड़ देना साहित्य में अलंकार माना गया है। "कहे लड़की से, लगे बहू को", इस चर्थ की जो कहावत है, उसका भी अर्थ यही है। बहू को यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़की को सुनाती है। उसी तरह हम हैं। "देहाती लोग आलसी हो गये।" दरअसल आलसी तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उनपर आरोप करते हैं। बेकारी के कारण उनके शरीर

में आलस भले ही मिट गया हो, परन्तु उनके मन में आलस नहीं है। उन्हें बेकारी का शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्ताओं के तो मन में भी आलस है और शरीर में भी। आलस्य हिन्दुस्तान का महारोग है। यह बीज है। बाकी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस को दूर करना चाहिए। सेवक को सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए।..और कुछ नहीं तो गांव की परिक्रमा ही लगाये। और कुछ न मिले तो गांवकी हड्डियाँ ही इकट्ठी करके चर्मालय में भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टी में मिट्टी लेकर उसे रास्ते पर जहाँ जहाँ खुला मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए खास कौशल की जरूरत नहीं है।

कुशल औजार

हमारे सेनापति बापट ने एक कविता में कहा है कि, बुहारी, खपरा और खुरपा ये औज़ार धन्य हैं। ये कुशल औजार हैं। जिस औजार का उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक से अधिक कुशल होता है। जिस औजार के. उपयोग के लिए कम से कम कुशलता की जरूरत हो वह ज्यादा से ज्यादा कुशल औजार है। झाड़ू सिर्फ फिराने की देर है। भूमाता स्वच्छ हो जाती है। खपरिया में जरा भी आनाकानी किये बिना मैल आ जाता है। यंत्रशास्त्र के प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिए। खपरा, खुरपी और झाड़ू के लिए पैसे देने नहीं पड़ते। इसलिए ये सीधेसादे औजार हैं।

केवल हवाखोरी मना है

रामदास ने अपने 'दासबोध' में सुबह से शामतक की दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सबेरे दिशा के लिए बहुत दूर जाओ और वहाँसे लौटते हुए कुछ न कुछ लेते आओ। वे कहते हैं कि रीता आना खोटा

काम है। सिर्फ हाथ हलाते नहीं आना चाहिए। कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गये थे। लेकिन हवा खाने का काम से क्यों विरोध हो? कुदाली से खोदते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है? हवा खाना तो नित्य चालू ही रहता है। परंतु श्रीमान हमेशा खिला हवावाली जगह में बैठे रहते हैं। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। लेकिन कार्यकर्त्ताओं को हमेशा खुली हवा में काम करने की आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ न कुछ लाया करे। देहात में दतौन ला सकता है। लीपने के लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम से कम किसी एक खेत के कपास के पेड़ ही गिन कर आ सकता है; यानी फसल का ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फिजूल चक्कर नहीं काटने चाहिए। देहात में काम करनेवाले ग्राम-सेवक को सुबह से शामतक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

एक मुंह पीछे दो हाथ

अब लोगों की शक्ति कैसे बढ़ेगी, इसके विषय में कुछ कहूँगा। देहातों में बेकारी और आलस बहुत है। देहातों के लोग मेरे पास आते और कहते हैं: 'महाराज, हम लोगों का बुरा हाल है। घर में चार खाने वाले मुंह हैं।' वे मुझे महाराज क्यों कहते हैं, कौन जाने। मेरे पास कौनसा राज धरा है? मैं उनसे पूछता हूँ, 'अरे भाई, घर में अगर खानेवाले मुँह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हों? बगैर खानेवाले मुँह तो मुर्दों को होते हैं। उन्हें तो तुरन्त बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घर चार खानेवाले मुँह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। उनका तुम्हें भार क्यों हो रहा है? भगवान ने आदमी को, अगर एक मुँह दिया है तो उसके साथ साथ दो हाथ भी दिये हैं। अगर एक समूचा मुँह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हारे यहाँ अगर चार मुँह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं। तिसपर भी शिकायत क्यों? लेकिन हम उन

हाथों का उपयोग करें तब न ? हमें तो हाथ पर हाथ धर कर बैठने की आदत जो हो गई है, हाथ जोड़ने की आदत जो हो गई। जब हाथ चलना बन्द हो जाता है तो मुँह चलना शुरू हो जाता है। फिर खाने-वाले मुँह आदमी को ही खाने लगते हैं।

सव्यसाची बनो

हमें अपने दोनों हाथों से एकसा काम करना चाहिए। पवनार में कुछ लड़के कातने आते हैं। उनसे कहा 'बाँए हाथ से कातना शुरू करो।' उन्होंने यहीं से कहना शुरू किया कि 'हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बायां हाथ दाहिने हाथ की बराबरी नहीं कर सकेगा।' मैंने कहा, 'यह क्यों ? दाहिने हाथ के अगर पांच अंगुलियाँ हैं तो बाएँ हाथ के भी हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा ?' निदान मैंने उनमें से एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि 'बायें हाथ से कात।' उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर देने का जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोज में वह साढ़े सात रुपया कमाता था। बायें हाथ से पहले पाख में ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाख में बायां हाथ दाहिने की बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सब की आंखें खुल गईं। यह कितना बड़ा लाभ हुआ ? मैंने लड़कों से पूछा कि 'क्यों लड़को, इसमें फायदा है कि नहीं।' वे बोले, 'हां, क्यों नहीं ?' दाहिना हाथ भी तो आठ घण्टे लगातार काम करने में धीरे धीरे थकने लगता है। अगर दोनों हाथ तैय्यार हों तो अदल बदल कर सकते हैं और थकावट बिलकुल नहीं आती। अट्ठाईस के अट्ठाईस लड़के बाएँ हाथ से कातने का प्रयोग करने के लिए तैय्यार हो गए।

पवनार के परिश्रमालय में जो लड़के हैं वे अब दोनों हाथों से कात सकते हैं। शुरू शुरू में हाथ में थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन

यह सात्विक दर्द है। सात्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू शुरू में जरा कडुआ ही लगता है। पुराणों का वह एकदम मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर जैसा कि गीता में कहा है सात्विक हो तो वह मीठा ही मीठा कैसे हो सकता है? गीता में बताया हुआ सात्विक सुख तो प्रारंभ में कडुआ होता है। मेरी बात मानकर लड़कों ने तीन तीन महीनों तक सिर्फ बाएँ हाथ से कातने का प्रयोग करने का निश्चय किया। तीन महीने दाहिना हाथ बिलकुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

मुंहजोरी की जगह हाथजोरी

मैं इस बात का ढिंढोरा पीटना नहीं चाहता। आजकल इश्तिहारबाजी बहुत चल पड़ी है। कभी कभी हम अखबारों में पढ़ते हैं कि लाहौर में एक बड़ा भारी अखाड़ा खोला गया है। जाकर देखिए तो दो तीन व्यक्ति कुछ व्यायाम करते हैं। उन्हें तो सिर्फ प्रसिद्धि की चाह है। काम करके जो हासिल करनी है वह प्रसिद्धि सेंतमेंत ही मिल जाती है। यह कितनी कर्मकुशलता है। अस्तु। पवनार में बाएँ हाथ ने दाहिने हाथ की बराबरी की। बल्कि कईएकों का तो बाया हाथ बाजी मार ले गया। जो लड़के पहले चार आने से अधिक नहीं कमा सकते थे वे अब दोनों हाथों से उतने ही समय तक कात कर डेढ़ गुना कमाने लगे हैं। इसे कहना चाहिए देहात की आमदनी की बढ़ती। यह मुझे बहुत अच्छी तरह आता है। क्योंकि पहले मैं खुद अपने हाथ से करके देखता हूं। मेरा तो यही नियम है कि देहात की आमदनी बढ़ाना हो तो अपने आप से शुरू करो। जब तक कोई भी काम मैं अपने हाथ से नहीं शुरू करूंगा तब तक उसकी कठिनाइयाँ भी ध्यान में नहीं आयेंगी। कठिनाइयों का अनुभव होनेपर ही सुधार हो सकता है। केवल गाल बजाने से यह नहीं

होगा। मुंहजोर को हाथजोर बनना चाहिए। इसी तरीके से मैं कातने वालों की कमाई डेढ़ गुनी बढ़ा सका। तीस मजदूरों से मेरा नित्य सम्बन्ध था। इसी तरह संपत्ति बढ़ेगी। मैं अपना जीवन इसी प्रकार नीचे उतार कर उनका जीवन ऊपर को ला सका। ऐसे दोहरे प्रयास से हम आलस जीत सकेंगे।

अनिन्दा व्रत

देहात में निन्दा का दोष काफी दिखलाई देता है। शहर के लोग उससे बरी हैं ऐसी बात नहीं। लेकिन मैं यहाँ देहात के ही विषय में कह रहा हूँ। निन्दा सिर्फ पीठ पीछे जिन्दा रहती है। उससे किसी का भी फायदा नहीं होता। जो करता है उसका मुंह खराब होता है। और जिसकी निन्दा की जाती है उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता था कि देहातियों में निन्दा करने की आदत होती है। लेकिन यह रोग इतने उग्र रूप में फैल गया होगा, इसका मुझे पता नहीं था। इधर कुछ दिनों से मैं सत्य और अहिंसा के बदले सत्य और अनिन्दा कहने लगा हूँ। हमारे सन्तो की बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके वाङ्मय का रहस्य अब मेरी समझ में आया। वे देहातों से भलीभाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने जगह जगह कहा है कि निन्दा न करो, चुगली न करो। सन्तों के लिए मेरे मन में छुटपन से ही भक्ति है। उनके किए हुए भक्ति और ज्ञान के वर्णन मुझे बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि 'निन्दा मत कर' कहने में क्या बड़ी विशेषता है ? उनकी नीति विषयक कविताएँ मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती नहीं थीं। परस्त्री को माता के समान समझो, पराया माल न छुओ और निन्दा न करो—इतने में उनकी नैतिक शिक्षा की पूंजी खत्म हो जाती थी। भक्ति और ज्ञान के साथ साथ उसी श्रेणी में वे इन चीजों को भी क्यों रखते थे यह मेरी समझ में नहीं आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह

समझ गया हूँ। निन्दा का दुर्गुण उन्होंने हमारी नसनस में पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होंने अनिन्दा पर बारबार इतना जोर दिया और उसे एक बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्ताओं को यह शपथ लेनी चाहिए कि वे न तो निन्दा करेंगे और न सुनेंगे। निन्दा में अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्य में अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। संसार चौपट कर दिया है इन साहित्यवालों ने। वस्तु-स्थिति को दुगुना, तिगुना, दसगुना, बीसगुना बढ़ाकर बताना उनके मत से अलंकार है। तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटने के समान है? कथाकार और प्रवचनकार की अत्युक्ति का कोई ठिकाना ही नहीं। एक को सौगुना बढ़ाने का नाम अतिशयोक्ति है ऐसा उसका कोई नाप होता तो अतिशयोक्ति पर से वस्तुस्थिति तो कोई हिसाब में ही नहीं है। वे एक में सौ का गुना नहीं करते बल्कि शून्य को सौगुना बढ़ाते हैं। सौ में अनन्त का गुना करने से कोई एक अंक आता है ऐसा सुनता हूँ, लेकिन वह तो गणितज्ञ ही जानें।

सचाई का सूक्ष्म अभ्यास

तीसरी बात जो मैं आप लोगों से कहना चाहता हूं वह है सचाई। हमारे कार्यकर्ताओं में स्थूल अर्थ से सचाई है। लेकिन सूक्ष्म अर्थ से नहीं। अगर मैं किसी से कहूँ कि तुम्हारे यहाँ सात बजे आऊंगा, तो वह पांच ही बजे से मुझे लेने के लिए मेरे यहाँ आकर बैठ जाता है, क्यों कि वह जानता है कि इस हिन्दुस्थान में जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है, वह उस वक्त आयेगा ही इसका कोई नियम नहीं। इस-लिए वह पहले से ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरे के भरोसे काम नहीं चलता। इसलिए हमें हमेशा बिलकुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गांववाले से आप कोई काम करने के लिए कहिए तो

वह कहेगा 'जी, हां।' लेकिन उसके दिल में वह काम करना नहीं होता। हमें टालने के लिए वह 'जी, हां' कह देता है। उसका मतलब इतना ही होता है कि अब ज्यादह तंग न कीजिए। 'जी, हां' से उसका मतलब है कि यहाँसे तशरीफ ले जाइये। उसके 'हां, जी, में थोड़ा अहिंसा का भाव होता है। वह आगे-बढ़कर आपके दिल को चोट पहुंचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नहीं देना चाहता। इसलिए 'जी, हां', कहकर जान बचा लेता है।

राजकोट का दृष्टान्त

इसलिए कोई भी चीज़ जो हम देहातियों से कराना चाहें वह उन्हें समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत न लिवाना चाहिए। जब से मैं देहात में गया तब से किसी से किसी बात के विषय में वचन लेने की मुझे चिढ-सी होगई है। अगर मुझे कोई कहे भी कि मैं यह चीज़ करूंगा तो भी मैं उससे यही कहूंगा कि 'यह तुझे जँचती है न? बस तो इतना काफी है। वचन देने की जरूरत नहीं। तुझसे हो सके तो कर!' लोगों को उसकी उपयोगिता समझाकर संतोष मान लेना चाहिए। क्योंकि किसी से कोई काम करने का वचन लेने के बाद वह काम कराने की जिम्मेदारी हमारी हो जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से उसे झूठ बोलने में सहायता करते हैं। राजकोट प्रकरण और दूसरी क्या चीज़ है? अगर कोई हमारे सामने किसी विषय में वचन दे दे और फिर उसे पूरा न करे तो उससे हमारा भी अधःपात होता है। इसीलिए बापू को राजकोट में इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इसीलिए वचन, नियम या व्रत में किसी को बांधना नहीं चाहिए। और अगर किसी से वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना ही समझकर उसे पूरा करने की सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करने में हर तरह से मदद करनी चाहिए। सचाई का यह गुण हमारे अन्दर होना चाहिए।

सूक्ष्म असत्य

बाइबल में कहा है, ईश्वर की कसम मत खाओ। जब तुम्हारे दिल में 'हां' हो तो 'हां' कहो और 'ना' हो तो 'ना' कहो; लेकिन हमारे यहाँ तो रामदुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात त्रिकार वचन के बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ हां कहने का अर्थ इतना ही है कि 'तुम्हारी बात समझ में आगयी। अब देखेंगे, विचार करेंगे।' किसी मजबूत पत्थर पर एक दो घाव लगाइए तो उसे पता भी नहीं चलता। दस-पांच मारिए तब कहीं वह सोचने लगता है कि कोई व्यायाम कर रहा है। पचास घाव लगाइए तब कहीं उसे पता चलता है कि 'अरे, यह व्यायाम नहीं कर रहा है। यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है।' एक बार हां कहने का कोई अर्थ ही नहीं। दो बार कहने पर वह सोचने लगता है कि मैंने हां भर दी है। और जब तीसरी बार हां कहता है तब उसके ध्यान में आता है कि मैंने जानबूझ कर हां कहा है। हिन्दुस्थान का इस तरह व्यवहार चलता है। इस सबका अर्थ इतना ही है कि इस दृष्टि से झूठ हमारी नसनस में भिद गया है। इसलिए कार्यकर्त्ताओं को अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि, जो चीज़ करना कबूल करें, उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गलती न करें। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झंझट में न पड़ें।

सारांश

तो मैंने अबतक तीन बातें आपके सामने रखीं। पहली यह कि हम आवश्यकताएं कम करें, और देहातियों की आवश्यकताएँ तथा उनकी कमाई बढ़ावें, और इस तरह दोनों के जीवन में जो अन्तर है उसे कम करें। दूसरी यह कि हम किसी की निन्दा न करें और दूसरों की की हुई निन्दा न सहें। और तीसरी यह कि सचाई का ठीक ठीक मतलब समझकर उसे अपने आचरण में दाखिल करें।

पुरानी और नई पीढ़ी

अब कार्यकर्ताओं से कार्यकुशलता के बारे में दो-एक बात कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ी के बहुत पीछे पड़ते हैं। चालू पीढ़ी का तो विशेषण ही चालू है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिये। लेकिन उसके पीछे न पड़िये। उसके शरीर के समान उसका मन और उसके विचार भी एक ढांचे में ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहनी हो वह नवजवानों से कहनी चाहिए। युवकों में मेरी श्रद्धा बढ़ रही है। तरुणों के विचार और विकार दोनों बलवान होते हैं। इसीलिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान और वेगवान होते हैं। अगर उनके विकार जबरदस्त हो सकते हैं तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे जैसे उम्र बढ़ती है वैसे वैसे विकारों का भी शमन होता है। मोटे हिसाब से यह सच है। लेकिन इसका कोई विश्वास नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात अगर चालू पीढ़ी को जँचे तो अच्छा ही है; और अगर न जंचे तो भी कोअी हानि नहीं। भावी पीढ़ी हाथ में लेनी चाहिए। युवक ही नए नए कामों में हाथ डालते हैं, बूढ़े नहीं। विकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं, यह मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वृद्धों की बनिस्बत तरुणों में उम्मीद और हिम्मत ज्यादा होती है।

फलप्राप्ति की अधीरता

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फल की आशा नहीं करनी चाहिए। पाच-दस साल काम करने पर भी कोई फल न आता हुआ देख कर निराश नहीं होना चाहिए। हिन्दुस्तान के लोग बीस हजार साल के बूढ़े हैं। जब किसी गांव में कोई नया कार्यकर्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देखे। साधुसन्त भी आए और गए। नया कार्यकर्ता कितने दिन टिकेगा इसके विषय में उन्हें

सन्देह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर वे अपनी या हमारी मृत्यु तक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं है।

वैतनिक कार्यकर्त्ता

एक कार्यकर्त्ता के सामने यह सवाल खड़ा है कि वह गो-सेवा-संघ से तनख्वाह ले या न ले। वह देहात में मैला साफ करने का काम करता है। वह मुझ से कहने लगा कि इतने दिन हुए मैं सफाई का काम करता हूँ लेकिन लोगों पर उसका कोई असर नहीं। बिलकुल पक्के हो गये हैं। एक स्त्री तो कहने लगी वह मैला साफ करता है इसमें कौनसा अहसान है। गांधी सेवा संघ से तनख्वाह जो पाता है। इसलिए उनके सामने यह सवाल पेश है कि ऐसी हालत में वे गांधी-सेवा-संघ से तनख्वाह लें या न लें। मैंने उनसे कहा कि तनख्वाह भी लो और काम भी जारी रक्खो। अगर वह स्त्री फिर से टोके तो उससे कहो 'हां, गांधी सेवा-संघ से तनख्वाह लेता हूँ और काम भी करता हूँ। काम करता हूँ इसके लिए तनख्वाह लेता हूँ। नहीं तो क्या मुफ्त में काम करूं? या मुफ्त की तनख्वाह लूं! तुम तनख्वाह दो तो तुम से ले लूं। कहो, देती हो!' लेकिन मेरी बात कार्यकर्त्ता के गले कैसे उतरे? वह अपने दिल में समझता है मैं भंगी से बड़ा हूँ। उसे समझना चाहिए कि भंगी जिस तरह काम करता है और वेतन लेता है उसी तरह मैं भी काम करके वेतन लेता हूं। लेकिन उसके तो दिल के किसी कोने में यह भावना दबी हुअी रहती है कि मैं तो परोपकारी भंगी हूं। अगर मैं तनख्वाह लूं तो निरा भंगी बन जाऊंगा। तो क्या सारा जन्म भंगी ही रहूंगा? ऐसा उसे डर लगता है। उसे यह आशा होती है, कि ज्यों ही मैं भंगी काम शुरू करूंगा, लोग तुरन्त साथ देने लगेंगे। लेकिन लोग फौरन साथ नहीं

देते । ऐसी आशा भी रखनी चाहिए । गीता भी यही कहती है कि फल की आशा न रक्खो । इसलिए कार्यकर्त्ता को मौजूदा पीढ़ी की सेवा ही करते रहना चाहिए । फल के लिए कम-से-कम अगली पीढ़ी तक धीरज रखना चाहिए यह एक बात हुई ।

समरसता का अर्थ

दूसरी बात यह है कि देहातियों से समरस होने का ठीक ठीक मतलब समझना चाहिए । उनका रंग हम पर भी चढ़ जाए, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है । इस तरह मिलने से तद्रूपता आने लगती है । मेरे मत से समाज के प्रति आदर का जितना महत्त्व है उतना परिचय का नहीं है । समाज के साथ समरस होने से उसका लाभ ही होगा ऐसी बात नहीं । हम अगर ऐसा मानें तो उसमें अहंकार है । हम क्या कोई पारस-पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्श से समाज की उन्नति होगी ? केवल समाज से समरस होने से काम होगा ऐसा मानने में जड़ता है । रामदास कहते हैं, 'मनुष्य को ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए । समुदाय का हौसला रखना चाहिए । लेकिन अखंड और स्थिर होकर एकान्त सेवन करना चाहिए ।' वे कहते हैं कि, 'कोई जल्दी नहीं है । शान्ति से और अखण्ड एकान्त सेवन करो ।' एकान्त से आत्मपरीक्षण का मौका मिलता है । लोगों से किस हद तक संपर्क बढ़ाया जाय यह ध्यान में आता है । अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उसपर रंग चढ़ने लगते हैं । कार्यकर्त्ता फिर देहातियों के ही रंग का हो जाता है । उनके चित्त में व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक भी होती है । फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय की पनाह लूं । एकाध बड़े आदमी के पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूं । फिर वे महादेवजी और ये नन्दी, दोनों एक रहने लगते हैं । वह कहता है, 'मैं बड़ा होकर खराब हुआ । अब तू

मेरे पास आकर रहा है। फायदा कुछ भी नहीं।' इसलिए समाज में सेवा के लिए ही जाना चाहिए। बाकी का समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षण में बिताना चाहिए। आत्मपरीक्षण के बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समय में हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। बगीचे का शौक हो तो बगीचा लगावें। कई कार्यकर्ता कहते हैं कि, 'क्या करें, चिन्तन के लिए समय ही नहीं मिलता। जरा बैठे नहीं, कि कोई न कोई आया नहीं।' जो आवे उससे बोलने में समय बिताना सेवा नहीं है। कार्यकर्त्ता को स्वाध्याय और चिन्तन के लिए अलग समय रखना ही चाहिए। एकान्त-सेवन करना ही चाहिए। यह भी देहात की सेवा ही है।

स्त्रियाँ गैरहाज़िर क्यों ?

अब इन खादी यात्राओं के संबंध में एक बात कहनी है। यहां पुरुषों की ही संख्या अधिक है। जो स्त्रियाँ आई हैं वे शहर से आई हैं। गांवों से स्त्रियाँ नहीं आईं। खादीधारी स्त्रियाँ बहुत-सी हैं ही नहीं। देहातों से यहां सिर्फ दो-चार आई हैं। अगर महिलाश्रम की बहनों को छोड़ दिया जाय तो पुरुष और स्त्रियों का अनुपात ४०.१ होगा। इतना फरक तो सरकारने मतदान का अधिकार देने में भी नहीं किया। खादीधारी स्त्रियों की संख्या कम है। इसका एक कारण तो यह है कि हमने जान-बूझकर खादी महंगी कर दी है। औरतें महीन साड़ी चाहती हैं। वह और भी महंगी पड़ती हैं। और दूसरा कारण यह है कि पुरुषों का खादी पहनना काफी माना जाता है। वह बाहर जाता है। ऊंचे डंडे पर अगर झंडा फहराया जाय तो सब को दिखाई देता है। उसी तरह अगर पुरुष के शरीर पर खादी हो तो देशभक्ति का श्रेय मिलता है। अब केवल खास सभाओं और उत्सवों में खादी पहनने से काम नहीं चलता। वह हमेशा पहननी पड़ती है। यह मुश्किल है। इसलिए बाहर घूमनेवाला सिर्फ

खादी पहनता है। घर के अन्दर खादी का प्रवेश नहीं होने पाता है। दूसरी यात्राओं की अनेक बातें हम नहीं लेते। लेकिन उनके गुणों को ग्रहण तो करना चाहिए। पंढरपुर के तीर्थयात्रियों की मंडली में सौ में से चालीस स्त्रियाँ होती हैं। कम से उतनी तो यहाँ हों। मैं तो कहता हूँ कि पुरुष खुद महीन सूत कात कर स्त्रियों को साड़ियाँ बुनवा दें, तो वे आसानी से खादी पहन सकेंगी।

स्त्रियों की सेवा करो

मेरी बात कहाँ तक जँचेगी यह मैं नहीं जानता। स्त्रियों के लिए कोई काम करने में हम अपनी हतक समझते हैं। पवनार का ही उदाहरण लीजिए। व्याकरण के अनुसार जिसकी गणना पुल्लिंग में हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं धोता। बाप के कपड़े लड़की धोती है और भाई के कपड़े बहन को धोने पड़ते हैं। माँ की साड़ी धोने में भी हमें शर्म आती है, तो पत्नी की साड़ी धोने की बात ही कौन कह सकता है? अगर विकट प्रसंग आ ही जाये तो एकाध रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पड़ोसिन वह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नी की साड़ी धोने का मौका आ ही जाये तो फिर वह काम शाम को कोई न देख पावे ऐसे इन्तजाम से, चुपचाप, चोरी से, कर लिया जाता है, ऐसी हालत है। और मेरा प्रस्ताव तो इसके बिलकुल उल्टा है। लेकिन अगर आप मेरी बात पर अमल करें तो आगे चल कर वे स्त्रियाँ ही तुम्हारे कपड़े बना देंगी, इसमें तनिक भी शंका नहीं है। एकबार मैं खादी का एक स्वावलंबन केन्द्र देखने गया। दफ्तर में कोई सत्तर पचहत्तर स्वावलंबी खादीधारियों की तालिका टंगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी। वहां जो सभा हुई उसमें मेरे कहने से खासकर स्त्रियाँ भी बुलाई गईं। मैंने पूछा, 'यहां इतने स्वावलंबी खादी-धारी पुरुष हैं, लेकिन स्त्रियाँ नहीं कातेंगी?' स्त्रियोंने जवाब दिया, 'हम

ही तो कातती हैं।' तब मैंने खुद हाथ से कातने वाले पुरुषों से हाथ उठाने को कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गए सूत के ओर पर स्वावलंबी थे। इसलिए कहता हूं कि फिलहाल तुम उनके लिए महीन सूत कातो। आगे चलकर वे ही तुम्हारे सारे कपड़े तैयार कर देंगी। कम से कम खादी-यात्रा में पहनने के लिए एक साड़ी अगर तुम उन्हें बना दो तो भी संतोष मान लूंगा। अगर वे यहाँ आएँगी तो कम से कम हमारी बातें तो उनके कानों तक पहुँचेंगी। इसलिए आपसे कहता हूं कि अगले साल जितनी संख्या में आप आयेंगे, उतनी ही संख्या में स्त्रियों को लाइए।

: ५ :

जैन मंझन जगह-जगह

(जैन संस्कृति का व्यापक रूप)

महात्मा भगवानदीन

बोल-चाल का सीधा-सादा शब्द मंझन संस्कृति की जगह काम में लाना प्यारा लगता है। 'संस्कृति' इने-गिने लोगों का लफ्ज है और मंझन सब का।

संस्कृति या मंझन उन्हीं के लिए ठीक बैठता है, जो आत्मा के होने में विश्वास रखते हैं। जो किसी वजह से आत्मा को भी नहीं मानते, वे संस्कृति शब्द की कैसे विधि बैठाते हैं—उनकी वे जानें।

केवल मानव-संस्कृति

हिन्दू सच, जैन सच, बौद्ध सच, ईसाई सच या मुस्लिम सच जैसे बोल पढ़े-लिखों को ही नहीं अनपढ़ को भी बेमतलब जचेंगे। काश ऐसा ही हिन्दू-संस्कृति, जैन-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति, इत्यादि बोलों के साथ भी होता। हमारे कान इन बोलों को भी बेमतलब समझते होते, तो आज मनुष्यों की आत्माएं कहीं ज्यादा मंझी हुई मिलती, दुनिया के आदमी कहीं ज्यादा सुखी पाये जाते। संस्कृति को मानव-संस्कृति नाम से ही पुकारना ठीक जंचता है। हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, भारतीय संस्कृति, चीनी-संस्कृति, बोलों को रिवाज में लाना संस्कृति के लिए घातक ही सिद्ध हुआ। हां हिन्दू-संस्कृति या चीनी-संस्कृति से यदि यह मतलब हुआ करता कि हिन्दुओं या चीनियों ने आदमियों की आत्माओं के मांझने में या खुद ऊंचे उठने में कितनी मदद की, तो हिन्दू-संस्कृति या चीनी-संस्कृति जैसे बोल कानों को मीठे लग सकते थे; पर पढ़ी-लिखी

और अनपढ़ जनता दोनों ही इन बोलों से यह अर्थ नहीं निकालती। हिन्दू संस्कृति का अर्थ होता है हिन्दू किस तरह रहते हैं, क्या खाना खाते हैं, किस तरह विवाह-शादी करते हैं, मुर्दों को जलाते या दफनाते हैं, कैसे कपड़े पहनते हैं। ठीक इसी तरह चीनी संस्कृति का अर्थ होता है चीनी क्या-क्या कैसे-कैसे करते हैं। यदि खाने, पीने, पहनने के रस्मोरिवाज को संस्कृति का नाम दिया जाये, तब तो मोहनलाल संस्कृति, चिंफू संस्कृति, मोहम्मदअली संस्कृति, जोन संस्कृति, जैसी संस्कृतियां भी ठीक समझी जानी चाहिये; यही क्यों बया संस्कृति, कौआ संस्कृति भी ठीक समझी जानी चाहिये; क्योंकि यह दोनों परिन्द एक दूसरे से अलग ढंग के घोंसले बनाते हैं। हर मुल्क, हर जाति का हर आदमी दूसरे से कुछ अलग तरीके से ही व्यवहार करता है। फौज या ऐसी ही संस्थाओं को छोड़कर हर शहर अपने ढंग के कपड़े पहनता है, अपनी पसन्द का खाना खाता है, और अपनी ही तरह का मकान बनाता है। खाने पहनने से संस्कृति कुछ की कुछ मान लेने से, संस्कृति का मजाक उड़े बिना नहीं रह सकता।

पाँच सचाइयाँ

संस्कृति लफ्ज को तोड़-फोड़कर देखने से मुझे तो उसके अन्दर सिवाय इन चीजों के और कुछ न मिला : (१) औरों को न सताना, (२) सच बोलना, (३) चोरी न करना, (४) जरूरत से ज्यादा सामान न रखना और यह कि (५) मर्दों को दूसरी औरतों की ओर और औरतों को दूसरे मर्दों की तरफ बुरी नजर से न देखना। यही पांच सचाइयाँ मिलकर संस्कृति नाम पाती हैं। कोई एक बढ़िया कपड़े पहनने वाला नहा धोकर सफाई से खाने वाला, रेल तार जैसी चीजों को अपने दिमाग से सोचकर बना लेने वाला यदि सब को सताता हो, चोरी करता हो या दुराचारी हो, तो क्या उसे कोई मंजी (संस्कृत) आत्मा कहेगा? उसे उसकी

उन सब बीभत्सताओं के साथ बेमानी ही मानना पड़ेगा। क्या आज भी अंग्रेज जर्मनों को न सही तो नाजियों को जंगली नहीं कह रहे हैं और क्या इसी तरह जर्मन लोग अंग्रेजों पर नहीं तो अंग्रेज सिपाहियों पर बर्बरता का दोष नहीं लगा रहे हैं! संस्कृति का अर्थ मंजी आत्मा के सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। मंजी आत्मा का अर्थ ऊपर बताई हुई पांच सचाइयों से सजा हुआ आत्मा ही हो सकता है। फिर न मालूम क्यों सब पढ़े-लिखे किसी जाति या देश की संस्कृति का बखान करते हुए उनके रहन-सहन, खान-पान, घर-मकान का जिक्र कर बैठते हैं और उन्होंने अपनी आत्माओं के मांजने में या दूसरों को ऊंचा उठाने में क्या हिस्सा लिया, उसे एक दम छोड़ जाते हैं।

मानव-संस्कृति के सिवाय, जैन-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति जैसे अगर यदि माहवारी रिसाले निकालें, तो अच्छा नहीं मालूम होता।

मैं जैन संस्कृति जैसे बोल में रिवाजी मानों में विश्वास नहीं करता; मैं आगे तो जो कुछ लिखूंगा, उसके जरिये सिर्फ यह बताने की कोशिश करूंगा कि जैनों ने मनुष्यों की आत्माएं मांजने में क्या कोशिश की; और क्या क्या तरीके निकाले और उसमें कहां तक कामयाब हुए। उन्होंने कौन कौन से नये विचार दुनिया के सामने रखकर दुनिया के लोगों को अपनी आत्माओं को ऊंचा उठाने में लगाया।

जैन ऋषियों का कार्य

जैन ऋषियों ने अपनी आत्माओं को औरों की तरह केवल मांजी ही नहीं, और भी किस किस तरह मांजते हैं, इसे गौर से देखा भी। उन्होंने जो कुछ बताया उसमें कुछ नया न होने पर भी नयापन दिखता ही। विज्ञानियों की तरह उन्होंने, कामयाबी हासिल करने की राह में किन दिक्कतों को आते देखा, या किन आसानियों की मदद मिलती पाई,

उनकी सीधी-सादी बोली में आने वाली सन्तान के लिए लिखकर रख दिया। उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि अमुक देवता को मान लो, तुम तर जाओगे। हां, समझाते समझाते अपनी सिद्ध आत्माओं से यह जरूर कहलवाया कि "देखो ! जब तक तुम हमें पूजते रहोगे या पूजने के ख्याल में रहोगे, तब तक हम जैसे नहीं हो सकोगे। हमें पूजना छोड़ अपने को पूज कर ही हम जैसे बन सकोगे।" क्या उनके यह थोड़े लफ्ज मुक्ति की इजारेदारी और दलाली का खात्मा करने को काफी नहीं हैं ? पैसा, दवाखाने की चीजें, सीख तक की भीख मिल सकती है, गुनों की नहीं, आजादी की तो कैसे भी नहीं। आत्मा की मंझी हुई हालत का नाम ही आजादी है, मुक्ति है। उसकी भीख कौन देगा ? मेहनत करो वह मिलेगी; मांगी वह चीज जाती है जो अपने में न हो, आजादी तो अपने अन्दर ही है, अपनी ही चीज है, मुद्दत से उसका रस न लेने से उसकी याद नहीं रही और इतनी याद भूली कि याद दिलाने पर भी याद नहीं आती। याद भले ही कोई दिलादे, दे नहीं सकता। जैन ऋषि शुद्धि करने में विश्वास नहीं करते, शुद्ध होने में विश्वास करते हैं। रामदत्त अल्लाहबख्श का आत्मा मांझ नहीं सकता, अल्लाहबख्श की आत्मा को अल्लाहबख्श ही मांझेगा। चोटी, जनेऊ, दाढ़ी, तिलक या किसी बाहरी रंगसाजी या काटछांट से कोई जैन नहीं हो सकता। जैनों के यहां पैदा होकर जाति से जैन भले ही कहलाने लगे, जैन लफ्ज के मानों में जैन नहीं हो सकता। जैन बनने की एक ही शर्त है: 'यह मान लो, जान लो कि हम हैं और आजाद हो सकते हैं, जैसे ही आपने यह माना जाना आप जैन हो गये, और जैनों से इज्जत पाने के हकदार भी। जैन के लफ्जी मानी हैं 'जीतनेवाला' या यों समझ लीजिए 'जीतने के लिए तैयार' या 'जीतने के लिए चलनेवाला' यानी आज़ादी का सिपाही। जैन धर्म का अर्थ है सिपाहियाना धर्म। आखिर मोह की फौज के सामने

अड़ डटने के लिए सिपाही की जरूरत नहीं तो और किस की हो सकती है ? जीवन को सभी धर्मों ने युद्ध माना है फिर कोई भी, किसी धर्म का माननेवाला भी सिवाय सिपाही के और क्या कहला सकता है ? आज़ादी बिकने की चीज नहीं, नहीं तो बानिया बनकर ही खरीद लेते। यह तो अड़ डट कर और तन, मन, धन की बाजी लगाकर ही मिलने वाली चीज है। इसलिए सिपाहियाना धर्म ही काम आ सकता है बनियाऊ धर्म नहीं।

दिक्कतें

जैनों के सामने सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि दुनिया के ज्यादा लोग यह माने हुए थे कि इस दुनिया का कोई एक बनाने वाला है, इतना ही नहीं, वे यह भी मानते थे कि जो, जो कुछ करता है, वह वह नहीं करता, ईश्वर करता है। यूं तो यह विचारधारा बड़े काम की चीज़ है, अगर इस धार में बह कर आदमी अपने घमण्ड को तोड़ डाले, और अपनी खुदी को भूल जाये, अपनी सारी भलाइयों को ईश्वर की दी हुई माने। ऐसा करने से तो वह 'नेकी कर कुएँ में डाल' वाली कहावत को पूरा करता है, पर उस समय जब जैनधर्म पैदा हुआ, लोग ईश्वर को मानते हुए भी अपनी भलाइयों को, और अपनी बुराइयों को ईश्वर की कराई हुई मान, एक दूसरे को खाये डाल रहे थे। इसलिए जैनों की यह नई विचारधारा कि : 'ईश्वर दुनिया का बनाने वाला नहीं है' बहा कर लोगों को आत्मा मांजने और ऊंचा उठने में लगाया। कुछ भी हो, यह विचारधारा बड़ी आकर्षक साबित हुई और लोग सचमुच अपने को संस्कृत करने में लग गए।

दुनिया किसने बनाई ?

बात यहीं तक नहीं रह सकती थी। यह बोझा जैनों के सिर पड़ा कि वह यह बतायें कि आखिर दुनिया किसने बनाई ? क्योंकि पढ़े-लिखों

की भलाई करते करते तबीयत ऊब जाने से ऐसी बात जानने की भी ज़रूरत थी। जैनों ने इस सवाल का जवाब 'दुनिया हमेशा से है' कह कर टालना चाहा, पर इससे काम न चला। उन्होंने और ज्यादा जानना चाहा और जो कुछ ज्यादा बताया गया उसी को आप 'जैन दर्शन' नाम से पुकार सकते हैं। इस दर्शन की तैयारी में जो वक्त लगा, वह वक्त आत्माओं के उठने-उठाने के हिसाब से फिजूल ही गया समझिए। हां, उस समय वह दर्शन डगमगाते और चटपटे इश्तहारों का काम कर गया; और काफी से ज्यादा आदमियों को अपनी ओर खींच कर, ऊँचा उठने में लगा भी गया। पर सब दर्शनों की तरह जैन-दर्शन भी जैन-पन्थ चलाने में सहायक हुआ और फिर लोगों को ईश्वर की जगह उसको मान लेना जरूरी हो गया, और आत्माओं को मांझकर आदमियों और जानदारों के साथ मिलजुल कर रहना गैर जरूरी।

द्रव्य-व्यवस्था

जैनों ने ईश्वर की दुनिया बनाने वाली बात की जगह लोगों को यह सिखाया कि यह चीजें हमेशा से हैं और हमेशा तक रहेंगी। उनकी यह बात मानने में विद्वानों को ऐतराज नहीं हो सकता था, क्योंकि वह एक ईश्वर को हमेशा से मानते आ रहे थे। कुछ तो ईश्वर, प्रकृति, जीव कई चीजों को हमेशा से हैं और हमेशा तक रहेंगी मानते ही थे। जैनों की यह चीजें हैं: १. जीव, २. पुद्गल (प्रकृति), ३. धर्म (ऐसी न दिखाई देने वाली ताकत, जो जीव और प्रकृति को चलने में मदद करती है, खुद चलाती नहीं), ४. अधर्म (ऐसी न दिखाई देने वाली ताकत, जो जीव और प्रकृति को ठहरने में मदद करती है, खुद ठहराती नहीं), ५. काल (ऐसी न दिखाई देने वाली ताकत, जो और सबको और अपने आपको भी बदलती रही है। साल, दिन, घंटे, घड़ी यह काल के चिह्न हैं, काल की आत्मा नहीं। काल की आत्मा तो बदलने वाली

ताकत ही है), ६. आकाश (सबको जगह देने वाली चीज)। इन्हीं छै चीजों से उन्होंने तीनों लोक और अलोक की रचना को पूरा किया।

जैनों ने उस समय की दिक्कतों को दूर करने के लिए और भी तरह तरह की विचारधारा बहाई। और उस समय तरह तरह के फैले हुए धर्मों को मिलाने की कोशिश की और उन धर्मों के मानने वालों को एक भाईचारे में बांधने की हिम्मत की; क्योंकि बिना उस भाईचारे के मनुष्य समाज सब का सब ऊंचा नहीं उठ सकता था और सबके उठे बिना कुछ के उठने से वह चीज नहीं मिल सकती थी, जिसे जैन पाना चाहते थे।

परमात्मा क्या ?

उनकी एक विचारधारा थी : ईश्वर है, पर वह अपने में सुखी रहने के सिवा (निजानन्द रसलीन) दुनिया के बनाने के झंझट में नहीं पड़ता। अवतार वाद उनको अपने काम का नहीं जंचा। सीधे सादे शब्दों में उन्होंने बताया कि ईश्वर नीचे नहीं उतरता और इस तरह अपना पतन नहीं करता। हर प्राणी के अन्दर ईश्वर है और वह माया का जाल तोड़कर, मेरे लफ्ज़ों में आत्मा को मांझकर, आजकल के लफ्ज़ों में संस्कृत होकर, ऊंचा उठता है, और परमात्मा का खेल खेलता है। सार यह कि आत्मा परमात्मा बनता है, परमात्मा आत्मा नहीं। यह नया विचार मन लगता विचार सिद्ध हुआ।

ही और भी

एक तर्क था 'ही' मत कहो 'भी' कहो, इस 'ही' और 'भी' के भेद ने लड़ते हुए मत-पन्थों को किसी हद तक लड़ने से जरूर रोका। जैनों का कहना है कि यह मत कहो कि एक आदमी बेटा ही है, वह अपने बेटे का बाप भी है, अपने मामा का भांजा भी है, अपनी बहिन का भाई भी। हर चीज अनेक गुणों से भरी हुई है। ईश्वर कर्त्ता ही है, यह मत

कहीं, ईश्वर कर्ता भी है कहो। उनका कहना है कि आदमी के अन्दर का ईश्वर भी ईश्वर है। आदमी जो कुछ करता है वह उसके अन्दर का ईश्वर ही तो करता है। इस नाते ईश्वर कर्ता भी है, दुनिया के बनाने के लिए एक अलग ईश्वर की बात उनको नहीं जँची। और शायद उनको यों भी नहीं जँची कि वे जिस ढंग पर मनुष्य समाज को ऊँचा उठाना चाहते थे, उसमें ईश्वर की दुनिया बनाने वाली बात, और कर्मों के फल देने वाली बात ठीक ठीक नहीं खप सकती थी।

समाज की भलाई में व्यक्ति की भलाई

एक युक्ति थी—बच्चों को इस बात की बड़ी जरूरत होती है कि जब वह कोई अच्छा या बहादुरी का काम करें, तो माँ-बाप या और कोई बूढ़ा बड़ा उन्हें देख रहा हो। बच्चों में ही नहीं बड़ों में भी यह आदत पाई जाती है। बच्चों में एक आदत और होती है, वह इनाम के लालच या डण्डे के डर से काम करना ; मनुष्य समाज अपनी बचपन की हालत में ही नहीं, आज भी इन आदतों से बचा हुआ नहीं है। उसे ऐसे ईश्वर की जरूरत थी और है, जो उसे बहादुरी का काम करते हुए देखे, और उसकी भलाई का इनाम दे और अपने से मजबूत दुश्मन को सजा दे। सुनते हैं, अमरीका के मुल्क को छोड़ बाकी मुल्कों में मजदूर बिना मेट (ओवरसियर) के काम नहीं करते। अमरीका में अपने ऊपर मेट की तैनाती को मजदूर बुरा समझते हैं। ठीक इसी तरह जैनों को यह बात मनुष्य समाज की शान के खिलाफ मालूम हुई कि वह ईश्वर के डंडे के बल काम करे या स्वर्ग-मोक्ष के लालच में आकर (जिसके दरवाजे की कुंजी ईश्वर के हाथ में बताई जाती है) भले कामों में लगे। इसलिए जैनों ने एक और नया ख्याल दुनिया के सामने रखा। वह यह कि आदमी दूसरों के साथ भलाई कर के ही अपना भला कर सकता है। दरख्त अपने फल आप नहीं खाते औरों को खिला कर ही फलते-फूलते हैं,

गाय अपना दूध आप नहीं पी सकती, औरों को पिलाकर ही सम्पुष्ट रह सकती है। आदमी अपने गुणों से, अपनी सचाइयों से, आप फायदा नहीं उठा सकता; उसे समाज को फायदा पहुंचाने से ही फायदा होगा। अपनी आत्मा को अपनी मेहनत से आजाद करने में ही आदमी का भला है। यह खयाल लोगों के दिल में घर कर गया। ईश्वर से बिना डरे या बिना इनाम की आशा के वे अपने आपको ऊँचा करने में लग गए। अपनी आत्माओं के मांझने में इस खयाल ने जादू का काम किया। फूल के साथ कांटे की तरह इस ऊँचे खयाल में भी घमण्ड का कांटा आ लगा। इसके लिए जैनों या उनके धर्म को जिम्मेदार ठहराना, अगर ठीक हो तो ठहराइए।

पुराणों की कथाएं

एक सुधार था: कथा-पुराणों में ऐसी अनेक बातें थीं, जो विज्ञान की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती थीं, और जिनका हो सकना दुनियादारों की समझ में असम्भव था; पर वे उन्हीं बातों पर एतकाद रखते थे और असम्भव होने के कारण अपने बुजुर्गों के कदम पर कदम रखकर नहीं चल सकते थे। आज भी राम और कृष्ण का अवतार मानने की वजह वे उन मुताबिक काम करने से साफ बच जाते हैं। अगर राम और कृष्ण को साधारण मनुष्य माना गया होता, तो मुमकिन है लोग उनके कदमों पर चलकर बहुत-सी आफतों से बच जाते और औरों को बचा लेते। शायद इसी किस्म के ख्याल से जैनों ने उन सब असम्भव बातों की सम्भव व्याख्या की, जैसे पुराणों में हनुमान जी को हवा का पुत्र माना गया है, इतना ही नहीं, उनको बन्दर मानकर उनके पूंछ भी जोड़ दी गई है। जैनों को वह ठीक नहीं जंचा, उन्होंने उसको यूं समझाया: हनुमान जी के पिता का नाम पवनंजय कुमार था, इसलिए उनको पवन पुत्र भी कहते थे, वे हवा के लड़के नहीं थे; आदमी से ही पैदा हुए थे।

उनको बन्दर न मानकर उन्हें वानर-वंशी माना। वानर-वंश, ऋक्ष-वंश ([illegible]-वंश), नाग-वंश, कौरव वंश का जिक्र जगह जगह है भी। आजकल भी जानवरों के नामों पर नाम रखे जाते हैं। इस तरह का सुधार भी अच्छा सुधार था, इस सुधार ने भी अनेकों को अपनी ओर खींचा। यह दूसरी बात है कि आज जैनों के पुराण आप ही ऐसी असम्भव बातों से भरे पड़े हैं। ऐसा न होता तो आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द को अपने सत्यार्थप्रकाश में चार कोस लम्बी-चौड़ी जूं दिखा कर जैनधर्म का मजाक उड़ाने का मौका न मिलता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश को जैनों ने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नामों से पुकारा है। जैनों का यह कहना है कि हर चीज हर वक्त बिगड़ती रहती है, बनती रहती है और कायम रहती है। जैसे आदमी का बचपन खत्म होता रहता है, जवानी जगह लेती रहती है और वह आदमी ज्यों का त्यों कायम रहता है। मिट्टी का लौंदा बिगड़ता रहता है, उसका घड़ा बनता रहता है, और मिट्टी ज्यों की त्यों कायम रहती है। बस इसी नाश करने वाली ताकत को हिन्दू महेश नाम से पुकारते हैं, और पैदा करने वाली को ब्रह्मा, और कायम रखने वाली को विष्णु कह कर पुकारते हैं। इसी तरह और भी देवी-देवताओं की सम्भव व्याख्या की। यहां इतना कह देना जरूरी है कि कोई इसे हिन्दूधर्म का खण्डन न समझे। हिन्दू पुराणों में हर बात तसवीरी बोली (चित्रित भाषा) में कही गई है। एक बार मैंने स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के मुंह से गणेशजी को ज्ञान की तसवीर होनेवाली तकरीर सुनी थी। उन्होंने उसमें गणेशजी की सवारी चूहे की विश्लेषण (Analysis) से तुलना की थी। उनके मनुष्य के देह पर हाथी के सिर के रखे जाने को समन्वय (Synthesis) बताया था, इत्यादि। उनका कहना था कि ज्ञान विश्लेषण पर सवार है, और विश्लेषण के माने काट काट कर देखना है। चूहा हर चीज को काटता है, गणेशजी की सवारी चूहा

रक्खा गया, इत्यादि। आज उसी जैनधर्म में अनेक देवी-देवता खड़े हो गए हैं और उसी तरह पूजे जाते हैं, जिस पूजने को शुरू के जैनों ने जोरों से रोका था। इस सुधार के ख्याल ने अपना काम खूब किया और लाखों-हजारों को नहीं तो सैकड़ों विद्वानों को कथा-पुराणों को नया रूप देने में लगा दिया।

एक नई खोज: दर्शन की एक और बात जो उन्होंने दुनिया के सामने रक्खी वह थी "कुछ नहीं से कोई चीज पैदा नहीं हो सकती और जो है, उसका नाश नहीं हो सकता।" सिर्फ शक्लें बदलती रहती हैं। इस विचार में शून्यवाद का खण्डन है। पर वास्तव में शून्यवाद शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' न लेकर 'सूक्ष्म' अर्थ लेता है। जैसे दवा हमारी आंखों के लिए शून्य हो सकती है। जीवात्मा तो हमारे लिए हर तरह शून्य ही है। पर यहां शून्य का मतलब सिवाय सूक्ष्म (लतीफ) के और कुछ नहीं हो सकता।

एक गहरी डुबकी: आत्मा के मांझने यानी आदमी के सुसंस्कृत होने में सब से जरूरी चीज है 'खुदी का मिटाना'। खुदी मेरे-तेरे पन का एक नाम है। मैं 'मैं' हूं, यह चीज मेरी है, तू 'तू' है, यह चीज तेरी है, यह विचार जितना जिसमें कम है, उतना ही उसका आत्मा मंझा हुआ है। मंझी हुई आत्माएं कई एक-सी मिल सकती हैं, पर वे बाहरी बर्ताव में एक-सी नहीं पाई जावेंगी। मंझी हुई आत्मा भी हर समय बर्ताव में एक-सी नहीं मिलेगी। खुदी की कमी ही मनुष्य की संस्कृति का माप है। खुदी को ही मोह कहते हैं। गुस्सा, घमण्ड, लालच, कपट यह चीजें मोह की जड़ को सींचती हैं। गुस्सा, घमण्ड, लालच, कपट की चाण्डाल-चौकड़ी पर जैनों ने बहुत विचार किया है। उनकी विचार विद्या (Thoughtscieoce) इसी चांडाल-चौकड़ी की कमी पर निर्भर है; हिंसा की जड़ में भी यही चाण्डाल-चौकड़ी रहती है। हिंसा आत्मा का

विभाव (विकार) है। स्वभाव प्रेम है, हिंसा प्रेम का विकार है। चाण्डाल चौकड़ी में से कोई भी आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा का स्वभाव है क्षमा (माफी)। गुस्सा क्षमा का विकार है। आत्मा का स्वभाव है समता। घमंड समता का विकार है। आत्मा का स्वभाव है ऋजुता (साफदिली), कपट ऋजुता का विकार है, इत्यादि। जैसे ठंडा पानी आग के साथ मिलकर आदमी को जला सकता है, इसी तरह प्रेम खुदी के साथ मिल, क्षमा खुदी की गोद में बैठ, साफदिली खुदी की सुहबत पा समाज और आदमी दोनों ही को खुदा के रुतबे से गिरा कर मामूली आदमी ही नहीं जानवर बना देते हैं। चाण्डाल-चौकड़ी के कम होने या काबू में होने से हिंसा घटती जाती है और प्रेम बढ़ता जाता है। कोई जानदार पूरा हिंसक कहीं नहीं मिल सकता। आफ्रिका के आदमखोर अपने बच्चों को नहीं खाते। जानवर भी ऐसा नहीं करते। जिसमें जितने दर्जे का प्रेम है, उसमें उतने ही दर्जे खुदी कम हो चुकी होती है। अहिंसा (प्रेम) खुदी की कमी का नतीजा है। खुदी को कम किए बिना जो अहिंसा पाई जाती है, वह कायरता को छिपाने के लिए होती है; इसलिए वह कायरता ही है। उस का नतीजा भी वही होगा, जो कायरता का होता है। जैनों की अहिंसा भी जैन कुल में पैदा होने से उनके पीछे लग गई है। वह खुदी को मिटाए बिना अहिंसा का नाटक खेलते और बदनाम होते हैं। अहिंसा में एक बड़ी कमी है, वह खुदी की कमी को भी बताती है और कायरता की ढाल भी बन जाती है। इस तरह की कमी ऊपर बताई हुई पांचों सचाइयों में है। अहिंसा धर्म नहीं है, किन्तु धर्मात्मा की पहचान है। धर्म है प्रेम, धर्म है खुदी का मिटना और परम धर्म है आत्मा का खुदी से बेलौस होना। धर्म का अर्थ स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव में होना ही परमात्मा बनना है।

स्वाधीनता प्रेम: जैन कहते हैं सारी आत्माएं आप ही अपने को मांझने में लगी हुई हैं, उसके समझने के लिए जैनों ने क्या मान रक्खा है, थोड़े में जान लेना जरूरी है।

जगत में चार और केवल चार तरह की चीजें मिलती हैं:—

(१) हमेशा से हैं और हमेशा तक रहेंगी, जैसे जीवात्मा।

(२) हमेशा से हैं, पर हमेशा तक नहीं रहेंगी, जैसे जीव और कर्म-सम्बन्ध।

(३) हमेशा से नहीं हैं, पर हमेशा तक रहेंगी, जैसे किसी एक जानदार की मुक्ति—आज़ादी।

(४) जो न हमेशा से है न हमेशा तक रहेंगी, जैसे किसी जानदार का अपने साथ बाँधा हुआ कोई एक कर्म।

जीवात्मा के साथ कर्म हमेशा से बंधा हुआ है। हमेशा से ही जीव इससे छूटने की कोशिश में है। दरख्त ऐसे जानदार हैं, जो अपने छुटकारे की कोशिश में कोई खास हिस्सा नहीं ले सकते, इसलिए उनमें जो जान है, उसको जैन 'कर्म-फल चेतना' के नाम से पुकारते हैं। बाकी कीड़े मकोड़ों से लेकर आदमी तक की जान 'कर्म-चेतना' कही जाती है, क्योंकि वह अपने छुटकारे में अपनी मेहनत भी लगाते हैं। मुक्त आत्माओं की जान का नाम है 'ज्ञान-चेतना' क्योंकि छुटकारे के लिए कुछ नहीं करना; वे आज़ाद हो चुके हैं।

जैन धर्म मनुष्य के बाहरी बर्ताव से अन्दर की जांच नहीं करता, वह तो सिर्फ यही बताता है कि अन्दर विचारों के बदलने पर बाहरी बर्तावों में बदलाव होना जरूरी है। मिसाल के लिए जैनधर्म के मुताबिक उस आदमी की, जिसके अन्दर देश की आज़ादी का समुद्र लहरें मारने लगा है, पहचान यह है :

आठ अङ्ग

(१) उसको देश की आज़ादी में कोई शक न रहेगा और न किसी तरह का डर रहेगा।

(२) वह अपनी देश सेवाओं का बदला न चाहेगा, न सेवा का बदला सेवा से, न धन से, न तारीफ़ और प्रसिद्धि से।

(३) वह कभी अपनी डींग न हांकेगा और न मुल्क की खिदमत करनेवालों की बुराई करेगा।

अपनी कमियों को लोगों के सामने रखने में उसे ज़रा भी झिझक न होगी, पर औरों की कमियों को वह छिपायेगा और छिपाने की पूरी कोशिश करेगा।

(४) कोई मुल्क की खिदमत करनेवाला यदि आज़ादी में शक करने लगे और गिरने लगे, तो वह उसे समझायेगा, उठायेगा और फिर काम में लगा देगा।

(५) उसे किसी से नफ़रत न रहेगी और बीमारों की सेवा करने में तो उसे मजा आने लगेगा।

(६) देश को गुलामी में डालनेवाली कोई बात उसे न रुचेगी और कितना ही बड़ा लालच उसे आज़ादी की राह से न हटा सकेगा। यहां तक कि उसके मुल्क को गुलामी में डालनेवाले ईश्वर को भी उसका सिर न झुकेगा; अगर ऐसा कोई ईश्वर हो।

(७) प्रेम का वह पुतला होगा। सारे देश सेवक और देश-वासियों के बीच उसका वही रिश्ता होगा, जो गाय और बछड़े के बीच होता है।

(८) वह कोई ऐसा काम न करेगा, जिससे उसके देश की शान को बट्टा लगता हो। देश की शान को बढ़ानेवाले छोटे से छोटे काम में

वह खुशी से शरीक होगा और उसका पूरा आनन्द उठायेगा। जैनों ने यह सब पहचानें बताकर भी साफ कह दिया कि मुमकिन हो सकता है कि यह सब बातें एक आदमी में हों और वह आज़ादी का एतकाद न रखता हो। उन्होंने इस मामले को यहीं नहीं छोड़ा, वे और आगे बढ़े और यह जानना चाहा कि आखिर यह आज़ादी की लहर किसमें क्यों उठती है ? और क्यों किसी में थोड़ी देर और किसी में हमेशा तक रहती है।

यहां यह बता देना जरूरी है कि उनका कामयाबी का बताया हुआ रास्ता हर कामयाबी के लिए काम आ सकता है, चाहे वह मुक्ति पाना हो चाहे मुल्क की आज़ादी हो, चाहे व्यापार हो और चाहे डाका डालना हो। जैसे रुपये से ज़हर और अमृत दोनों खरीदे जा सकते हैं। ठीक उसी तरह इस कामयाबी की कुंजी से आज़ादी और बर्बादी दोनों के ताले खोले जा सकते हैं। यह खोलनेवाले की तबियत पर निर्भर है।

चार कषाय (चाण्डाल-चौकड़ी)

आजादी की लहरें, उनका कहना है दो तरह से उठती हैं। एक अपने आप, दूसरी किसी के जोश देने से। अपने आप उठी हुई लहरें, हमेशा नहीं तो अक्सर कायम रहती हैं। जोश देने से उठी लहरें, अक्सर नहीं तो कभी कभी हमेशा रहनेवाली होती हैं। इतने से भी पढ़नेवालों की तसल्ली न हो सकेगी और वह कुछ और जानना चाहेंगे। जैनों की खुद तसल्ली नहीं हुई। वे और आगे बढ़े और इस नतीजे पर पहुंचे कि जिसने गुस्सा, घमण्ड, लालच, कपटवाली चाण्डाल-चौकड़ी पर किसी हद तक काबू पा लिया है, उसमें उठनेवाली आज़ादी की लहरें देर तक रहने वाली होती हैं। और जिनके यह चाण्डाल चौकड़ी बिल्कुल काबू में नहीं आई, उनकी आज़ादी का जोश सोडावाटर्स उफान जैसा होता है। जोर के आन्दोलन में केवल बरसाती मेंढक की तरह बेशुमार देशभक्त पैदा हो

जाते हैं या किसी नए चटकीले-मटकीले धर्म के बेशुमार भक्त बन बैठते हैं। उन्होंने इस चाण्डाल-चौकड़ी के चार दर्जे कायम किए; उनके अनुभव ने उन्हें ऐसा करने पर मजबूर किया। **बेहद गुस्सा**, जिसके रहते हुए कोई इन्सान किसी अच्छे काम में लगता ही नहीं। **बेहद गुस्सा** करनेवाले आत्महत्या (खुदकुशी) कर लेना खेल समझते हैं। दूसरा दर्जा **बहुत गुस्सा**, जिसके रहते हुए फर्ज पूरा नहीं किया जा सकता। फिर वह फर्ज किसी किस्म का क्यों न हो। तीसरा दर्जा **मामूली गुस्सा**, जिसके रहते हुए अपने अन्दर की ताकत का अन्दाजा नहीं लग सकता और इस वजह से वह इतना ऊँचा नहीं उठ सकता, जो दूसरों को रास्ता बता सके। चौथा दर्जा **मीठा गुस्सा**, जिसके रहते आदमी आदमी रहता है और दुनिया से रिश्ता बना रहता है। इसको गुस्सा न कह कर माफी का नाम दिया जाए तो बेजा न होगा। यह गुस्सा न मिट सकता है न मिटाने की कोशिश करनी चाहिए। ये चार दर्जे गुस्से की तरह, घमण्ड, लालच, और कपट के भी समझ लेने चाहिए। चौथे दर्जे में घमंड स्वाभिमान कहलाता है, कपट सादगी बन जाता है, लालच प्रेम में तब्दील हो जाता है। दर्जे कायम करके ही वे चुप न रहे और आगे बढ़े, और इस नतीजे तक पहुँचे कि खुदी की कमी से ही चाण्डाल-चौकड़ी आप कमज़ोर होती चली जाती है; और प्रेम के बढ़ने से कर्तव्य पालने में मजा आने लगता है। धीरे धीरे खुदी बिलकुल मिट नहीं जाती तो मिटी-जैसी हो जाती है। और चाण्डाल चौकड़ी मीठी चौकड़ी बन जाती है। ऐसी आत्माएं ही गुलाम मुल्कों को आज़ाद करने, धर्मों की स्थापना करने और करोड़ों को सच्चे रास्ते पर लगाने में समर्थ होती हैं।

जैन मंथन या संस्कृति

जैनों के बड़े बड़े मन्दिर, कुछ कुछ जैनों का खास तरह का तिलक, उनके कुछ साधुओं का बिल्कुल नंगा रहना, कुछ का सफेद या पीले कपड़े

पहनना, उनका रात में न खाना, छान कर पानी पीना, कुछ का नंगी मूर्तियों का पूजना, कुछ का उन्हें कपड़े पहनाकर पूजना और कुछ का मूर्तियों से दूर भागना इत्यादि, जैन संस्कृति नाम से पुकारने में कम-से-कम मेरी इच्छा नहीं। भले ही कुछ जैन या अजैन विद्वान उसे ही उनकी संस्कृति समझते हों। अगर जैन संस्कृति नाम से किसी को पुकारना ज़रूरी ही हो, तो वह हो सकती है सारे हिन्दुस्तान पर, और आज कल सारी दुनिया पर अहिंसा की छाप। क्योंकि अहिंसा एक ऐसा धर्म है, जो आत्माओं के मांझने और ऊंचा उठाने में बहुत बड़ा हिस्सा लेता है। जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के बाद भारतवर्ष में जितने मतों का प्रचार हुआ, उनमें से शायद ही किसी ने अहिंसा की अवहेलना करने की हिम्मत की हो। बौद्धधर्म का भी अहिंसा पर जोर था। पर जहां जहां बौद्धधर्म फैला, वहां अहिंसा की जगह घोर हिंसा ही फैली हुई दिखाई देती है। इसलिए यह तो नहीं माना जा सकता कि हिन्दुस्तान पर लगी अहिंसा की छाप में बौद्धधर्म का भी हिस्सा है। जैन आज ढाई हज़ार वर्ष के बाद भी माँस न खाने के लिहाज़ से अहिंसक बने हुए हैं। कुछ उंगलियों पर गिने जाने वालों को छोड़कर जैन, हिन्दुस्तान ही नहीं, दुनिया के किसी भाग में रहें, मांस न खाने वालों को जैनधर्म के अर्थों में पूरा अहिंसक तो नहीं मानता; मैं तो पहले ही कह चुका हूं कि अहिंसक वह ही है, जिसकी अहिंसा मोह की कमी का, नाश का नतीजा हो, न कि कायरता की ढाल या समाज के भय का परिणाम। शराब, जो अक्ल को मैला कर या मिटाकर अक्सर हिंसा का सबब बन बैठती है, उससे भी जैन ऐसे ही बचे हुए हैं, जैसे मांस-भक्षण से। आत्मा के ऊंचे उठने में शराब से बचना भी बहुत ज़रूरी है और इस लिहाज़ से जैनों ने आत्माओं के मांझने में यानी मानव संस्कृति को आगे बढ़ाने में और धर्मों की अपेक्षा शायद ज्यादा काम किया है।

गुलामी का इलज़ाम

इस गुलामी से दबे हुए हिन्दुस्तान में कुछ समझदार लोगों ने एक नई आवाज़ उठाई है, वह यह कि जैनों की अहिंसा ने मुल्क को हिजड़ा बना दिया, और लड़ाई के काम का न रखकर इसको दूसरों का गुलाम बना दिया। मैं उनका वकील बन कर इसका जवाब न दूंगा। हां, इतना जरूर कहूंगा कि चौदह लाख जैनों के रहते मुल्क अगर गुलाम है, तो उनकी अहिंसा जिम्मेदार हो या न हो वे जरूर ज़िम्मेदार हैं। जिनके बूढ़े बड़ों ने प्रकृति की गुलामी को भी बर्दाश्त नहीं किया और ईश्वर की गुलामी का भी खंडन किया, वे क्यों और कैसे इस गुलामी को बर्दाश्त कर रहे हैं? यों तो हिंसावादी यूरोप के सारे मुल्क गुलामी में फंस गए हैं, और वहां हिंसा गुलामी का कारण नहीं मानी जाती, वैसे ही अहिंसा भी गुलामी का कारण नहीं हो सकती। अगर अहिंसा को गुलामी का कारण बहस के लिए मान भी लिया जाए, तब भी मुझे इसमें हिंसा पर अहिंसा की ही जीत दिखाई देती है। चौदह लाख की अहिंसा भारत को गुलाम बनाए है और पौने चालीस करोड़ से ज्यादे आदमियों की हिंसा उसके दूर करने में असमर्थ है! क्या इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि एक अहिंसक की अहिंसा का काम दो सौ पचासी हिंसक हिंसा से नहीं मिटा सकते। अहिंसा को गुलामी का कारण बताना ऐसा ही होगा जैसे अहिंसा को हिंसा का कारण बताना। जैनधर्म के अनुसार गुलामी हिंसा है। गुलाम बनाने से गुलाम बनना कहीं बड़ी हिंसा है। जैन लफ़्ज़ 'जिन' से बना है। जिन जित् धातु से बना है, जिसका अर्थ है जीतना। जैन का अर्थ हुआ जीतनेवाला। फिर न मालूम कैसे जैनधर्म को लोग गुलामी का कारण बना बैठे? यह हो सकता है कि किसी धर्म के अनुयायी किसी मुल्क में बड़ी संख्या में रहते हुए भी कायर बन जाएं और मुल्क को गुलाम बना

बैठें, पर इस वजह से उनके धर्म को उस गुलामी का ज़िम्मेदार बता देने में बतानेवालों का ही नुकसान होगा, क्योंकि वह अपनी इस मनमानी खोज के भरोसे असली कारण तक नहीं पहुँच सकेंगे, और अपने को धोखा न देकर आनेवाली सन्तानों को भी धोखे में रखेंगे। उनकी लिखी हुई किताब अगली सन्तानों के हाथ में पड़ेगी और वह धोखे में रहेंगे। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि बे पढ़े-लिखों का हर अनोखी घटना का कारण ईश्वर मान बैठना विज्ञान की तरक्की में बड़ी रुकावट डालता आया है, डाल रहा है और डालता रहेगा। विज्ञानी किसी मनुष्य की समझ के लिए असम्भव घटी हुई घटना को ईश्वर की की हुई न मानकर उसके कारण की खोज में लगता है और ढूंढ भी निकलता है। मैं उन विज्ञानियों से, जो अहिंसा या जैनधर्म को हिन्दुस्तान की गुलामी का कारण बताते हैं, यही विनय प्रार्थना करूंगा कि अहिंसा और जैनधर्म हिन्दुस्तान की गुलामी के बहुत दूर के निमित्त कारण भले ही रहे हों; पर मुख्य उपादान कारण कुछ और ही था, वह उसे जानने की कोशिश करें।

यहां जैनों की हिंसा—अहिंसा का थोड़ा-सा जिक्र कर देना जरूरी मालूम होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जैनधर्म अन्दर की तरक्की के आधार पर बाहर के व्यवहार को मानता है। वह बाहर से—चाल चलन से—अन्दर की तरक्की का फैसला करना धर्म के लिए घातक समझता है। उसका कहना है कि ऊंचे दर्जे का गृहस्थ अगर हिंसा छोड़ने में तरक्की कर सकता है, तो सिर्फ इतनी कि वह जान बूझकर अपने पेट भरने या अपने और अपनों के तन पोषण के लिए हिंसा न करे। इस हिंसा का नाम उसने संकल्पी हिंसा रक्खा है। सिर्फ इसी किस्म की हिंसा से गृहस्थ बच सकता है। अब रही इस तरह की हिंसा जैसी चलने-फिरने खाना बनाने वगैरह में होती है, या खेती जैसे व्यापारों में होती है, या ऐसे कामों में जैसे अपने पर हमला करते हुए चोर का मुकाबला करने में

या घर पर चढ़ आए डाकू को मार भगाने में, या अपने मुल्क को गुलाम बनाने के लिए आनेवाली दुश्मन की फौजों को मिटा देने में होती है; उसको वह नहीं छोड़ सकता। अगर वह छोड़ता है या छोड़ने का मत लेता है, तो वह अपनी कायरता को छिपाने का ढोंग रचता है, या अच्छी नीति का दूरन्देशी से पालन करता है, जिससे वह किसी अच्छे समय पर अपने धर्म का ठीक ठीक पालन कर सके, जैसा पाण्डवों ने द्रौपदी की साड़ी खींचे जाने पर शान्त रहना ही टीक समझा और वक्त पर युद्ध-क्षेत्र में उचित धर्म को निभाया। ऐसी ऊपर बताई हुई तीन तरह की अहिंसाओं का नाम आरम्भी, उद्योगी और विरोधी रक्खा है। मेरे खयाल से पाठकों के लिए हिंसा के सम्बन्ध में इतना काफी होगा। जैनधर्म कायरता को हिंसा से बहुत नीच समझता है, वह मैदान में लड़कर मरने वाले को स्वर्ग भेजता है, लेकिन २४ घन्टे धर्म में लगे हुए कायर को स्वर्ग से वंचित रखता है। हाँ, सबसे बड़ा रुतबा मुक्ति (निजदेसजदी) वह मैदानजंग में मरने मारनेवाले को नहीं देता। वह रुतबा तो उस बहादुर अहिंसक के लिए ही है, जो मुहम्मद साहब की तरह तीर कमान से सजे होने पर भी, दुश्मन के तीर से दांत टूटने पर भी, किसी पर हाथ नहीं उठाता। जैनों के चौबीस महापुरुषों (तीर्थङ्करों) में पांच को छोड़कर और एक तरह बाकी सब विवाहित थे; राजकुल में जन्मे, राज्य किया, लड़ाईयां लड़ी, और बाद में मुक्ति हासिल की।

सात तत्त्व

जैनों ने बड़ी तपस्या के बाद अपने पर आजमा कर लोगों के लिए एक तरीका निकाला, जिससे उन्हें अपनी आत्माओं के मांझने के लिए तैय्यार होने में ज्यादा सोचना न पड़े। उनकी यह बड़ी ख्वाहिश थी कि आदमी जल्दी ही देवता बन जाय। सुपरमेन (Superman) के पैदा होने की बात आजकल यूरोप में भी चल पड़ी है; सुपरमेन का अर्थ देवता होता

है। इस तपस्या का मतलब था कि मनुष्य शान्ति से रहता हुआ उस अनन्त शक्ति का पता लगा ले, जिससे वह अनन्त सुख पा सके। उनके बताए हुए तरीके से जैन ज्यादा फायदा न उठा सके। शायद उसकी वजह यह रही हो कि अभी समाज का आत्मा इतना ऊँचा उठा ही न था कि वह उसे अपना ले। सफलता, कामयाबी, आज़ादी या मुक्ति हासिल करने के लिए नीचे लिखे सात तत्त्व दिए जाते हैं, जो उनकी तपस्या के फल थे—

(१) स्व (यानी खुद, जीव)
(२) पर (यानी गैर, प्रकृति)
(३) पर के आने का रास्ता
(४) पर से अपनापन
(५) पर के आने के रास्ते को रोकना
(६) पर से अपनेपन को कम करना
(७) आज़ादी (मोक्ष, मुक्ति)

इन तत्त्वों को समझाते हुए उन्होंने बताया कि आजादी के लिए सबसे जरूरी चीज़ है एतकाद (विश्वास), जिसकी वजह से आजाद होने की लगन पैदा होती है, जिसके जोर से अज्ञान का पर्दा मिट नहीं जाता, तो फट जरूर जाता है; और उस फटे हुए हिस्से से लगन वाले को अपनी असलियत का पता लग जाता है। इसको आप आत्मदर्शन समझ लीजिए, इस दर्शन से उसमें एक बेचैनी शुरू होती है; इस बेचैनी को आप इलहाम कह सकते हैं। इस बेचैनी के बाद ज्ञान के भंडार का दर्वाजा खुलता है, जिससे वह अपने एतकाद के मुआफिक ज्ञान पाकर आज़ादी हासिल करने की कोशिश में लग जाता है! कहने लिखने में देर लगती है, असल में एतकाद, ज्ञान और काम सब एक ही साथ शुरू होते हैं। यह सब एक ही चीज के तीन नाम हैं। इसके बाद ऊपर बताई हुई सातों बातें अपने

आप उसको याद हो आती हैं; और वह समझने लगता है कि मेरी गुलामी का कारण मैं हूं, गैर नहीं। गैर दूर के सबब भले ही हों, पर असली सबब मुझ में ही है। मुल्की आजादी के ख्याल से गैर हमारे मुल्क में रहते हुए हमारी गुलामी का कारण नहीं बन सकते; अगर हम उन्हें अपना बनाकर उनपर जरूरी कामों के लिए भरोसा करना छोड़ दें। आर्थिक (इकतिसादी) आजादी के ख्याल से औरों का रुपया हमारी दुकान में जमा रहने से हमारी दुकान गुलाम नहीं है; लेकिन उसे अपना समझने से दुकान गुलाम ही रहेगी और दिवाला निकालने का शक बना रहेगा। चाल-चलन की आजादी के ख्याल से गुस्सा, घमण्ड, लालच, कपट चाण्डाल-चौकड़ी हमें नुकसान नहीं पहुंचा सकती अगर हम अपनी आदत का हिस्सा न मान लें।

इन्हीं तत्वों के आधार पर जैनों ने एक बड़ा कर्म-शास्त्र रच डाला है, जिसमें आजादी या मुक्ति हासिल करने का तफसील के साथ जिक्र है।

विचारवाद

इसको आप विचार-विज्ञान कहिए, अनासक्ति योग कहिए, निष्काम कर्म-शास्त्र कहिए, जो भी कहिए पर यह आत्मा को मांजने में बड़े काम की चीज है, और वैसा ही बना रहेगा।

जैनधर्म ईश्वर को कर्त्ता न मानने की वजह से पुरुषार्थ का पुजारी हो गया है। जैनधर्म को पुरुषार्थ-धर्म के नाम से पुकारना बेजा न होगा। उसका एक एक वाक्य आत्मनिर्भरता से भरा पड़ा है। वह आत्मवादी और परमात्मवादी होने के नाते आस्तिक है सही, पर पुरुषार्थ की विचार-धारा में बहकर पक्का नास्तिक जंचता है, कुछ उसे नास्तिक कहते भी हैं। उसकी विचारधारा में घमण्ड के फेन दिखाई देंगे; पर वे घमण्ड के फेन सेवा के जल से बने हुए मिलेंगे। उसका गुस्सा क्षमा के रंग में रंगा

हुआ; उसका लालच उदारता के आसन पर बैठा हुआ; उसका कपट साफदिली में डूबा हुआ मिलेगा। यह बात मैं आजकल के जैनों के लिए नहीं कह रहा, यह तो उस साहित्य के आधार पर कह रहा हूं, जो जैन ग्रन्थों में भरा पड़ा है, जैसे—

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जातें भए अरहंतादि महान्॥

इस दोहे में अरहंत को नमस्कार न करके वीतराग-विज्ञान (Science of non-attachment) को नमस्कार किया गया है। इस घमण्ड में मिठास है, विनम्रता है, सच्चाई की लगन है यह घमण्ड है ही नहीं।

अरहंत

पाठकों के लिए जैनों का अरहंत शब्द समझ लेना जरूरी है। बौद्धों का अरहंत शब्द यही अर्थ रखता है। आजकल के जैन अरहंत शब्द को बहुत बड़ा समझते हैं; हिन्दुओं के ईश्वर का स्थान जैनों में अरहंत को ही दिया गया है। जैन शास्त्रों की रू से अरहंत यानी अनासक्तियोग में कामिल या खुदी से बरी या निष्काम कर्म करने में निरन्तर तल्लीन। आजकल के जैनों का कहना है कि आजकल इस दुनिया में कोई अरहंत नहीं हो सकता, पर जैन शास्त्र उनकी इस मान्यता की ताईद करते नहीं जंचते। अहरंत होना आसान नहीं तो मुश्किल भी नहीं है; असम्भव तो हो ही कैसे सकता है। महावीर स्वामी (जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर) और बुद्ध भगवान दोनों एक ही वक्त में थे; एक दूसरे को अरहंत कहकर बोलते थे। उन दिनों अरहंत शब्द ऐसे ही रिवाज में था, जैसे आजकल भगवन्। अर्हंत लफ्ज़ कब से इतना डरावना बन गया, इसका पता नहीं।

ऊपर का दोहा डेढ़ सौ, दो सौ वर्ष से ज्यादा पुराना नहीं है। इससे पता लगता है कि सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक जैनों में पुरुषार्थी और

स्वतन्त्र विचारक थे। हैं तो अब भी पर पहले की तरह उन्हें जैन समाज में वह स्थान नहीं मिलता, जो पहले मिलता था।

आइए अब उनका विचारवाद देखिए।

जगत के सब जानदारों के विचार चौदह दर्जों में बटे हुए हैं। वह दर्जे ऐसे नहीं हैं जो कम ज्यादा न किए जा सकें। काम इन चौदह से भी चल सकता है। वे हैं—

१४ गुणस्थान

(१) जड़ मूर्ख—इस श्रेणी में वे सब जानदार शामिल हैं, जो कभी अपनी आज़ादी की बात नहीं सोचते; गुलामी और आज़ादी की तमीज भी नहीं कर सकते। इनमें एक इस तरह के हैं, जो कभी आज़ादी की नहीं सोचेंगे, और दूसरे ऐसे हैं जो एक न एक दिन आज़ादी की राह चलेंगे और उसे पायेंगे भी।

(२) गिरने की हालत में—इस दर्जे में वे सब जानदार आते हैं, जो एक या कई बार आज़ाद होने की कोशिश कर चुके हैं; लेकिन फिर उससे गिरकर जड़ मूर्ख बन गए हैं। इस दर्जे में कुछ सेकण्ड ही रहना होता है। पहले दर्जे में कोई नहीं आता। अगले तीसरे दर्जे से ही गिरकर आता है।

(३) ढुलमुल यकीन—इस दर्जे में वे सब आते हैं, जो आज़ाद होने के लिए उठे पर अब उन्हें शक होने लगा है। इस दर्जे में अगले चौथे दर्जे में से गिरकर ही आया जाता है।

(४) आज़ादी की लगन वाले—इस दर्जे में सब आज़ादी की लगन वाले शामिल हैं। इस लगन का जिक्र ऊपर हो चुका है। इस दर्जे के लोग दूसरों को कुछ करते धरते नहीं दिखाई देते; आज़ादी के सम्बन्ध में वे अन्दर ही अन्दर कुछ करते रहते हैं। क्योंकि पहले दर्जे में आना

होता है; इसलिए इसको दूसरा दर्जा भी कह सकते हैं। इस दर्जे में आने के लिए जो अन्दरूनी तबदीलियां होती हैं वे यह हैं—खुदी यानी मेरे तेरे पन का कम होना और चांडाल चौकड़ियों में से बेहद गुस्से, गुरूर, वगैरा का दब जाना या मिट जाना।

(५) कर्तव्यशील (फर्जशिनास)—इस दर्जे में वे सब मनुष्य शामिल हैं, जो आजादी के लिए कुछ न कुछ करने में लग गए हैं। वे वह समझ गए हैं कि उनका मुल्क के लिए, सोसायटी के लिए, मां-बाप के लिए, बुजुर्गों के लिए, क्या फर्ज है। काम करने के लिहाज से इस दर्जे के ग्यारह हिस्से और किए गए हैं, उनका यहां जिक्र नहीं किया जाएगा। वे सिर्फ इस बात को बताते हैं कि इस दर्जे का आदमी किस किस तरह खुदी को मिटाता हुआ, निष्काम कर्म करता हुआ, अन्याय के मिटाने और सचाई के कायम करने में लगकर सोसायटी की खिदमत करता है। इस दर्जे में रहकर आदमी समाज सेवा में काबिल हो जाता है और इस काबिल हो जाता है कि वह औरों को राह दिखा सके।

(६) आलस्य—इस दर्जे में वह सब आदमी शामिल हैं, जो सातवें दर्जे में पहुंच चुके हैं। पर आराम लेने की गरज से थोड़ा दम लेते हैं। पांचवें दर्जे से इस दर्जे में कोई नहीं आता; यह सातवें दर्जे वालों की आरामगाह है; पर कोरी आरामगाह नहीं, वह इस दर्जे में रह कर अपने काम की तैयारी करते हैं। असल में इस दर्जे में आने का सारा सबब होता है खुदी के ख्याल में कुछ गड़बड़ी का होना। सातवें दर्जे में रहकर वह खुदी को भूले हुए रहता है। जहां खुदी की ओर ख्याल गया और छटे दर्जे में आया।

(७) निरालस—इस दर्जे में वे लोग शामिल हैं, जो कर्तव्य-कर्म में कमाल रखते हैं। यह बड़े ऊंचे दर्जे के लोग होते हैं। इनमें आत्म-

शक्ति इतनी बलवान हो जाती है कि उनके पास बैठने से ही लोगों में आज़ादी का समुद्र लहरें मारने लगता है, और यही वे लोग होते हैं, जो जिधर निकल जाते हैं शान्त क्रान्ति पैदा कर देते हैं। वे इस दर्जे में थोड़ी देर ही रहते हैं, आमतौर से छठे दर्जे में आराम करते रहते हैं।

(८) आत्मदर्शी (खुदाशनास)—इस दर्जे में वे लोग शामिल हैं, जिन्हें अपने अन्दर की ताकत का पता लगने लगता है; उनके अन्दर एक गुदगुदी-सी होने लगती है, जिसकी वजह से वे हमेशा हंसते हुए मिलेंगे। तकलीफों का असर उन पर बहुत ही कम होता है। वे बड़े प्रभावशाली होते हैं। यही वे लोग होते हैं, जिन के पास पहुंचने से लोगों के शक आप रफा हो जाते हैं। उनके अन्दर जो जागृति होती है, वह उनके अपने लिए ही इतनी अनोखी और खींचती हुई मालूम होती है कि वे उसकी ओर खिंच कर ऐसा मालूम करने लगते हैं कि सफलता यह रही !

(९) समदर्शी (साकिन) —इस दर्जे में वे वली (सन्त) शामिल हैं, जिनको अपनी ताकत के ध्यान से पैदा हुआ हल्का घमण्ड खत्म हो चुका होता है। वे उस नई ताकत से पैदा खुशी को संभालने में बिलकुल काबिल होते हैं, उनकी हैरत (विस्मय) खत्म नहीं तो काबू में आ चुकी होती है।

(१०) आज़ादी के लालची—इस दर्जे में वे लोग शामिल हैं, जिनकी खुदी का खात्मा तो नहीं होता, लेकिन बिलकुल काबू में आ चुकती है। इनकी तरफ लोग इतने खिंचते हैं कि जहां जाते हैं, भीड़ लग जाती है। इनको देखकर ही लोगों को बड़ी खुशी होती है।

(११) दबी हुई खुदी—इस दर्जे में दसवें दर्जे के सब आदमियों का आना जरूरी नहीं; यह बड़ा खतरनाक दर्जा है। इसमें उन्हीं लोगों को आना पड़ता है, जिन्होंने अपनी ऊंची तालीम के जरिए या किसी

आकांक्षा की वजह से चाण्डाल-चौकड़ी और खुदी को दबाया होता है, वे यहां ओर आते हैं और इस दर्जे से आदमी को बहुत नीचे ढकेल देते हैं।

(१२) खुदी का खात्मा (मोह-नाश)—इस दर्जे में वे लोग शामिल हैं, जो खुदी को बिल्कुल मिटा चुके हैं, और उनका ईश्वर जाग चुका है। यह बात एक फारसी कवि ने भी कही है:

ता तो मानी खुदाय दर ख्वाबस्त
तो न मानी चु ओ शवद बेदार

'जब तक तू मैं मैं करता रहता है, तेरा ईश्वर तुझ में सोता रहता है; तू मैं मैं करना छोड़ दे, तेरा ईश्वर जाग जाएगा।' यह शेर (पद्य) है तो मुसलमान कवि का कहा हुआ, पर इसमें जैनधर्म का निचोड़ मौजूद है। जैनधर्म का क्या, धर्म का निचोड़ यह ही है।

इस दर्जे में पहुंचने पर जीवन-मुक्त बनने में नाम मात्र की कसर रह जाती है और इसकी वजह सिर्फ वह अभ्यास है, जो हमेशा से आत्मा के साथ लगा हुआ है। जिस तरह रस्सी के जलने पर रस्सी के बट ज्यों के त्यों बने रहते हैं, उसी तरह खुदी का निशान बना रहता है; यद्यपि खुदी अपना काम करने में बेकार हो चुकती है। इस दर्जे में गिरने या पीछे जाने का कोई खतरा नहीं रह जाता।

(१३) जीवन-मुक्त (अर्हन्त, अर्हत, रसीदावली) इस दर्जे के वली (योगी) बेहद कर्मशील (हमेशा काम में लगे हुए) रहते हैं, क्योंकि इस दर्जे में कर्मों से आसक्ति नहीं रह जाती; इसलिए कर्म करने से थकान नहीं होती। दिन-रात काम किया जा सकता है; अब तो वह आत्मा ही आत्मा है। इनका देह इनके लिए नाम मात्र को रह जाता है। इन्हें अपने देह की सुध नहीं रहती। इनसे ऊंचे दर्जे का आत्मा देह में जीवित नहीं रह सकता। इनमें लोगों को खींचने की बहुत बड़ी ताकत रहती है। इनकी बातें बड़ी सीधी सादी होती हैं, पर असर करने में बड़ी पैनी। वे जिधर

होकर निकल जाते हैं, समा बदल देते हैं। यह जो क्रान्ति (इन्कलाब) करते हैं, उसमें शान्ति भरी रहती है। शायद यह कहना बड़ी बात न होगी कि अगर शेर और गाय इनके सामने बैठ पाएं, तो एक दूसरे के दोस्त बन जायं।

(१४) सिद्ध--इस दर्जे में आत्मा क्षण भर रहता है। खुदी के साथ दुनियादारी खत्म हो जाती है। इसलिए दुनिया खत्म हो जाती है। इनके चल बसने को लोग निर्वाण नाम देते हैं।

यह चौदह दर्जे सब जानदारों को लेकर बताए गए हैं। इनका जैनों से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। जैनधर्म या उसके किसी खास सिद्धान्त के माननेवाले ही इन दर्जों में होकर गुजरें ऐसी भी कोई बात नहीं। केवल जैनों की जांच से वह नतीजा नहीं निकला, यह सिद्धान्त तो प्राणि-मात्र की जिन्दगियों से खींच कर निकाले गए हैं। जैनधर्म कभी यह दावा नहीं करता कि तुम जैसा बाहरी बर्ताव करोगे, वैसा ही फल होगा, वह तो यह कहता है कि तुम्हारे अन्दर जैसे ख्याल होंगे, वैसा ही तुम्हें फल मिलेगा। एक किस्म के विचारवालों के काम एक ही तरह के हों, यह जरूरी नहीं। काम अलग अलग हो सकते हैं; पर उन कामों की भलाई का माप करीब करीब एक-सा होगा। जिस तरह एक ही क्लास में अलग अलग नम्बर पर विद्यार्थी रहते हैं; पर उनकी योग्यता का माप एक ही रहता है; अगर अन्तर रहता है तो बहुत थोड़ा। कुछ ऊंचे दर्जों में विचारों की एकता के साथ अमल (काम) भी एक-से हो सकते हैं।

महामंत्र—इस मंत्र की बात बताने से पहले यह कह देना जरूरी है कि जैनों के आखिरी तीर्थंकर ही नहीं, सबके सब अपने उपदेशों में उसी बोली से काम लेते थे, जो उनके समय में उस देश में बोली जाती थी, जिस देश में वह पैदा हुए थे। उन्होंने अपने बोलने या लिखने में संस्कृत को कभी नहीं अपनाया। इसे जैनों का दुर्भाग्य कहें या देश का

कि उसी धर्म के अनेकों महत्वशाली ग्रन्थ संस्कृत में लिखे मिलते हैं। किसी मनचले पंडित ने इस महामंत्र को भी संस्कृत में लिख डाला जब कि उसे चाहिए था आज कल की बोली में लिखना। महामंत्र यह है:—

'नमस्कार (सलाम) हो अर्हन्तों को, नमस्कार हो सिद्धों को, नमस्कार हो आचार्यों को, नमस्कार हो उपाध्यायों को, नमस्कार हो लोक के सारे साधुओं को।' इससे ज्यादे सर्वव्यापक मन्त्र क्या हो सकता है? इसमें कहीं जैन सिद्ध, जैन साधु जैसे बोल नहीं मिलते। असल में शुरू में जैनधर्म ही नहीं, सारे धर्म सबके लिए बनते हैं; नहीं तो वे तरक्की ही न कर सकें। वह बच्चों और पौधों की तरह सब को प्यारे लगते हैं। सभी का जी उन्हें अपनाने को उछलता है। जहां मेरा-तेरा पन पैदा हुआ, वहां लोगों को उनसे प्रेम कम हो जाता है और कोई कोई छोड़कर चल देते हैं। धर्म में मेरा-तेरा लगाकर तो कुफ्र के झण्डे को काबे से खड़ा करना है। भला फिर खुदी को कोई कैसे छोड़ सकेगा?

जैनों का महामन्त्र इस कुफ्र से बरी है। वह दुनिया भर के अनासक्त जीवित काम करनेवालों को (खुद मिटानेवाले और मिटने-वालों को) अपने मनमन्दिर में सबसे पहली और ऊंची जगह देता है। वह सिद्धों को (स्वर्गीय वलियों को) इनके बाद याद करता है। क्योंकि वह उनसे राह रास्त (सच्चे मार्ग) का सबक नहीं पा सकता, वे सिर्फ उसके एतकाद (विश्वास) की चीज हैं, मदद करने वाले नहीं। मन्त्र के इस टुकड़े में कहीं मत-पन्थ की बू नहीं मिलती। तीसरे नम्बर पर वह दुनिया भर के सब आचार्यों को (आज़ादी की राह की तालीम देने वाले कालिजों के प्रिन्सीपल्स) और चौथे नम्बर पर सब उपाध्यायों (प्रोफैसरों) को नमस्कार करता है। मन्त्र के आखिरी टुकड़े में दुनिया भर के सब साधुओं को नमस्कार किया गया है। साधु यानी आज़ादी के काम में लगे हुए आदमी। साधु लफ्ज़ भी अर्हन्त की तरह बड़ा भारी लफ्ज बन बैठा है, और उसके पीछे भी जैनों ने तरह तरह की अटपट

भावनायें बना रक्खी हैं। पर महावीर स्वामी के समय में यह समाज भी बड़ा सीधा-सादा था और आज की तरह भारी न रहकर हल्का और फैलू था। आज़ादी हासिल करने के लिए चल पड़नेवाला हर आदमी साधु है और नमस्कार के योग्य है। इस मन्त्र का नाम है नमस्कार मन्त्र। हर जैन इस बात का बड़ा ख्वाहिशमन्द रहता है कि मरने से पहले कोई उसके कान में इस मन्त्र को पढ़कर फूंक मार दे। सारा हिन्दुस्तान इसकी ख्वाहिश की नकल करने लगे, तो शायद दुनिया, जो गलत ओर भागी जा रही है, ठीक रास्ते पर चलने लगे।

भाई-चारा

जैनधर्म और धर्मों की तरह लोगों को जैन बनाने में विश्वास नहीं करता। हां, आर्यसमाज की देखादेखी उसमें यह हवा चल पड़ी है। वह तो फ्रीमेन्सों की तरह या थियोसोफिस्टों की तरह या शुरू के मुसलमानों की तरह एक भाई-चारे में विश्वास करता है। और महावीर स्वामी के समय में ऐसा भाई-चारा बन चुका था। जैन जाति जैसी अलग चीज थी ही नहीं। आजकल के जैन छुआछूत में सनातनियों से भी कई हाथ आगे बढ़ गए हैं। क्यों? इसका जवाब इस लेख का विषय नहीं। जैनधर्म तो सिर्फ यही चाहता है कि लोग जी-जान से अपनी आत्माओं के मांजने में लगें—समाज की, पैसे की मुल्क की और हर तरह की गुलामी की जंजीरें तोड़ने में जुट जायं। इस काम के सबसे पहले पैने हथियार जैन धर्म की राय में अहिंसा, सच बोलना, चोरी न करना, बहुत सामान इकट्ठा न करना और पवित्र रहना है। इन हथियारों के बिना वे आज़ादी की राह में इतनी तेजी से न बढ़ सकेंगे, जितनी तेजी से उन्हें बढ़ना चाहिए। ये पांचों सचाइयां सारी विचार-धाराओं की जड़ हैं। इन्हीं का नाम धर्म है। यही धर्म है। सब धर्मों में इनका जिक्र मिलेगा। इन्हीं सचाइयों के नाते सब धर्म एक हैं। इन्हीं सचाइयों से सब धर्म आत्माओं को मांजते हैं। यही मानव-संस्कृति है। आज़ादी आत्मा की

एक खास शक्ल का नाम है, न कि मुल्क में किसी खास हुकूमत का। शेर पिंजड़े में रहकर भी कुछ आज़ाद है, क्योंकि वह आदमी की गाड़ी नहीं खींचता। बैल और घोड़े खुले रहकर भी गुलाम हैं, क्योंकि वह जुए या साज के नीचे एक टिटकारी पर सिर झुका कर अपनी गर्दन या पीठ लगा देते हैं। जैनों को अब सिवाय इसके और कोई काम नहीं रह जाता कि वह आज़ाद हों, आज़ाद करें, लोगों को आज़ादी के रास्ते पर लगाएं और जान में जान रहते आज़ादी की कोशिश करते हुए इस ख्याल से प्राण छोड़ें कि हम तब तक पैदा होते रहेंगे, जब तक कि एक भी आदमी गुलामी में फंसा हुआ रहेगा। निर्वाण पाने में हम सबसे पीछे रहेंगे।

तीन रतन

सच्चा एतकाद (सम्यक विश्वास); सच्चा इल्म (सम्यक ज्ञान); सच्चा अमल (सम्यक चारित्र) ये तीन मिलकर कामयाबी, आज़ादी, मुक्ति की सड़क हैं। कोई किसी काम में लगे, इन तीन के बिना उसको सफलता नहीं मिल सकती। कोरा एतकाद कुछ नहीं कर सकता; न अकेले इल्म (ज्ञान) से कुछ बन सकेगा। सिर्फ अमल से तो कुछ होता ही नहीं है। विश्वास और ज्ञान मिलकर अमल न होने से कोई फायदा नहीं। विश्वास और अमल बिना ज्ञान के न मालूम कहाँ पटक दें। ज्ञान और अमल बिना विश्वास के बेस्टीम के इंजन हैं। विश्वास एक ज़ोर है जो काम में लगता ही नहीं; आगे ढकेलता रहता है। गरज कामयाबी के लिए तीनों ही जरूरी हैं। सच्चे विश्वास के साथ बाकी दोनों सच्चे होते ही हैं और साथ ही साथ होते हैं। सच्चे विश्वास के बिना ज्ञान और अमल झूठे ही होंगे। उनसे कोई सिद्धि न मिलेगी। उनसे कोई कामयाबी न होगी। आज़ादी दूर रहेगी। जैनधर्म का यही इत्र है, निचोड़ है, सार है। यही तीन सिद्धान्त हर जगह काम कर रहे हैं। आत्म-मंडन के यही आमाल हैं। यही जैन संस्कृति है जो सर्वव्यापक (जगह-जगह) है।

: ६ :

समाज और धर्म के नाम पर

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

जो बात जितनी ही आसान मालूम देती है, वह प्रायः उतनी ही कठिन होती है। दिन-भर 'समाज' और 'धर्म' की चर्चा करते रहना आसान है, किन्तु यह बताना आसान नहीं कि 'समाज' किसे कहते हैं और 'धर्म किसे ?

यूं कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वृक्षों के समूह का नाम 'जंगल' है और व्यक्तियों के समूह का नाम 'समाज;' किन्तु लगता ऐसा है कि 'समाज' इतना ही कुछ नहीं, इससे कुछ अधिक है। क्या अधिक ? यही तो आसानी से बताया नहीं जा सकता।

और धर्म ! सामान्य तौर पर कह सकते हैं कि 'समाज' के लिए हितकर नियमों का नाम 'धर्म' है। क्या धर्म इतना ही है ? नहीं, इससे बहुत अधिक।

'समाज' की तो कदाचित् कुछ परिभाषा हो जाय, 'धर्म' की तो हो ही नहीं सकती। 'रहस्यवादी' कवि की कविता की तरह 'धर्म' न किसी की समझ में आता है और न पकड़ में।

सुविधा के लिए हम 'धर्म' के दो भेद क्यों न कर लें ? एक 'चिन्तन', दूसरा 'आचरण'। दोनों व्यक्तिगत और समाजगत हो सकते हैं। चिन्तन अपेक्षाकृत व्यक्तिपरक है और आचरण समाज-परक।

धर्म के नाम पर जो चिन्तन आज बाजार में बिकता है, वह कई प्रकार का है। कुछ तो आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ही है। यदि आप बाजार से दवा की कोई ऐसी बोतल अपने किसी रोगी-सम्बन्धी के लिए

ले आयें जिसके ऊपर दवाई का लेबल तो लगा हो, परन्तु अन्दर कुछ न हो तो आप के घरवाले आप को क्या कहेंगे ? मैं समझता हूँ—'देवानां प्रियः—अर्थात् मूर्ख। महान् आश्चर्य है कि आत्मा-परमात्मा की उलझनों में उलझे रहनेवाले कहलाते हैं दार्शनिक, कहलाते हैं पंडित !

एक बार सिंहल में एक बालक को मैं संस्कृत की एक किताब पढ़ाने लगा। उसमें आरम्भ में ही मंगलाचरण अर्थात् ईश्वर-स्तुति थी। लड़के ने पूछा—"ईश्वर क्या ?" अब क्या बताऊँ कि ईश्वर क्या ? उसने पूछा—'ब्रह्मा ?' मैंने कहा—'नहीं, उसके चार मुँह होते हैं।' वह बोला—'विष्णु ?' मैंने कहा—'नहीं, वह समुद्र में शेष-नाग पर शयन करते हैं।' वह बोला—'महेश ?' मैंने कहा—'नहीं, उनके गले में साँपों की माला होती है।' तब वह थोड़ा खीझकर बोला—'तो ईश्वर क्या ?' अब क्या बताऊँ कि ईश्वर क्या ? मैंने कहा :

"पग बिनु चले, सुनै बिनु काना
कर बिनु कर्म करै बिधि नाना।"

(उसके पाँव नहीं हैं, किन्तु वह चलता है; उसके कान नहीं हैं, किन्तु वह सुनता है; उसके हाथ नहीं हैं, किन्तु वह नाना प्रकार के कर्म करता है)—वह ईश्वर है।

है न इस बोतल में शून्यवाद ही शून्यवाद ! कई स्थानों से इस प्रकार की खाली बोतलें बेची जाती हैं—बड़ी सस्ती। लोग यह देखते ही नहीं कि वे किसी भी भाव महंगी हैं, क्योंकि अन्दर से ऐसी बोतलें एक-दम खाली हैं।

एक बार किसी ने पूछा—"स्वामीजी ! साकार और निराकार में क्या अन्तर है ?" मैंने कहा—"भाई ! पहले लोगों ने 'साकार' ईश्वर की कल्पना की। दूसरों ने कहा—दिखाओ। बड़ी मुसीबत थी। तब उन्होंने कहा—ईश्वर 'साकार' नहीं 'निराकार' है। तब से दिखाने की झंझट से सदा के लिए छुट्टी मिल गई।"

धर्म के नाम पर जो दूसरी भयानक चीजें बाजार में बिकती हैं, वे हैं स्वर्ग-नरक की कल्पनाएँ। स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं को 'भयानक' कहने जाकर मैंने प्रकारान्तर से 'ईश्वर' को भी भयानक कह दिया। यह शायद अच्छा नहीं हुआ; किन्तु जरा इस अन्याय-पूर्ण दुःख-दारिद्र्य-मय संसार को देखिए। और तब देखिए लोगों की इस मान्यता को कि इसे 'ईश्वर' ने बनाया! और साथ-साथ इस मान्यता को भी कि वह 'करुणामय' है, 'न्यायी' है।

ईश्वर की कल्पना की अपेक्षा स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं की जो बड़ी विशेषता है, वह यह कि स्वर्ग-नरक निराकार कल्पनाएँ नहीं हैं। बाजार में आपको किसी देश का बड़ा नक्शा लेना हो तो दस दूकानें खोजनी पड़ेंगी; किन्तु यह स्वर्ग-नरक के नक्शे आप चाहे सड़क पर बैठे दूकानदारों से ले लीजिए—खास जर्मनी के बने हुए। आदमी का बच्चा कहीं आरे से चीरा जा रहा है, कहीं कोल्हू में पेरा जा रहा है। आप कहेंगे कि ऐसे चित्र भले ही झूठे हों, किन्तु उन्हें देखकर लोग 'पाप' करने से डरते हैं। क्या आप किसी एक कालेबाजार के व्यापारी का नाम बता सकते हैं जो इन चित्रों को देखकर ब्लैक-मार्केट करने से बाज आया हो? यदि नहीं, तो यह चित्र आखिर किस के लिए हैं?

धर्म की दूकान का तीसरा तैयार-माल है पुरोहितशाही। वकील मुकद्दमे में हराता या जिताता है। इन भगवान् के वकीलों का अधिकार—इन पुरोहितों का अधिकार—इससे कहीं बढ़कर है। वे चाहें तो आपको स्वर्ग पहुंचा सकते हैं और चाहें तो नरक का भी सीधा द्वार दिखा सकते हैं।

एक लड़के की मुसीबत याद आ गई। सुनिए। कोई और वैसा आदमी न होने से बिचारा अपने घर के किसी बड़े बूढ़े के 'फूल' ही

हरिद्वार, गंगाजी में डालने के चला। 'फूलों' का ज़मीन पर रखना मना है। उसने एक पेड़ पर टांग दिए। स्वयं नीचे सो रहा। आँख खुली तो क्या देखता है कि 'फूल' नदारद! हो सकता है कि खाने की कोई चीज समझ कुत्ता उन्हें झपट ले गया हो। और यह भी हो सकता है कि साथ में बन्धे एक-दो पैसों के लालच से उन्हें कोई खोल ही ले गया हो। किन्तु लड़का अब क्या करे? गंगाजी जाय तो क्यों जाय, और न जाय तो कैसे न जाय? आखिर घर के लोगों की भावनाओं का ख्याल कर उसने झूठ-मूठ गंगा हो आना तै किया। मन तो भारी था ही—शरीर भी भारी हो गया। जैसे तैसे वह गंगा पहुंचा। वहां रास्ते में उसने एक साथी मुसाफिर को अपनी मुसीबत सुनाई। 'मुसाफिर' बोला—'कोई चिंता नहीं।' वह उस लड़के के साथ-साथ गंगा तट पर आया। वहां पहुंच कर बोला—"मैं पण्डा हूं। मैं तुम्हारा सब इन्तजाम कर देता हूं।' उसने लड़के के दोनों हाथों को बालू से भर दिया और कहा कि कल्पना करो, यही फूल हैं। लड़के ने श्रद्धा से आँखें बन्द कर लीं। पण्डे ने पूछा—"अब बताओ, दक्षिणा क्या दोगे?" लड़के ने इधर-उधर देखा। इस प्रकार की मेहनत की मजदूरी पांच पैसे की दी जा रही थी। लड़का अपराधी था। उसने दस पैसे देने स्वीकार किए। पण्डा बोला—"ढाई रुपए से कम न लेंगे।" लड़के की स्थिति ढाई आने से अधिक दे सकने की न थी—न मानसिक न आर्थिक। पण्डा बोला—"तो बन्धे खड़े रहो।" उस दिन भगवान् के दरबार का वह वकील उस लड़के को मानसिक दासता की लोह-शृंखला में बान्धकर गंगा के प्रवाह में अकेला छोड़ आया।

लड़के को मार्मिक-वेदना हुई। किन्तु उसके हृदय में सच्चा 'धर्म' था। धर्म ने उसकी रक्षा कर ली। उसने आँखें बन्द करके बड़ी श्रद्धा से कहा—'जय गंगा माई की'; और हाथ धोकर बाहर निकल आया।

अब पण्डा फिर उसके पीछे लगा—'ओ ही राम, ओ ही राम।' लड़का बोला—'अब पैसे किस बात के !' मैंने अपना काम आप किया है।

यूँ आज के 'गाईडों' की तरह तीर्थ-स्थानों पर इन पण्डों का भी उपयोग है ही, किन्तु मुसीबत तो यह है कि जिसका बाप पुरोहित उसका बेटा भी पुरोहित और जिसका बाप पुरोहित नहीं उसका बेटा भी पुरोहित नहीं !

कुशल इतनी है कि देश की यह बीमारी केवल पुरोहित-शाही तक सीमित है। यदि रेल्वे-ड्राइवरों और रेलवे-गार्डों के लिए भी कहीं यह आवश्यक हो जाय कि उनका बाप भी रेल्वे-गार्ड और रेलवे ड्राइवर होना ही चाहिए तब तो आप की जी० आई० पी० चल चुकी !

नरक-स्वर्ग की सड़क हो, निरुपयोगी जीवन की गाड़ी हो, पुरोहित ही ड्राइवर हो और पुरोहित ही गार्ड हो तो फिर जितनी चाहो उतनी लम्बी निरर्थक यात्रा हो ही सकती है।

धर्म 'चिंतन' के क्षेत्र से उतरकर जब 'आचरण' का रूप धारण करता है तो समाज-रचना उसका आवश्यक अंग बन जाता है। आर्थिक-दृष्टि से तो आज का समाज दो वर्गों के अखाड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं, किन्तु धार्मिक दृष्टि से वह है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र का समूह। इन में अछूतों की गिनती इसलिए नहीं की गई क्योंकि वे इस चहार-दीवारी के बाहर के हैं। गांधीजी ने हमारी इस वर्ण-व्यवस्था को पड़ी हुई लकीर कहा है। यह पड़ी हुई लकीर नहीं। यह धर्म के सहारे खड़ी हुई सीढ़ी है। इसका सब से नीचे का सिरा शूद्र है और ऊपर का ब्राह्मण। कहा जाता है कि शूद्र का काम है वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण सब की सेवा करना। वैश्य का काम है शूद्र से सेवा लेना और क्षत्रिय, ब्राह्मण की सेवा करना। क्षत्रिय का काम है वैश्य और शूद्र से

सेवा लेना तथा ब्राह्मण की सेवा करना। और ब्राह्मण का काम है सब से सेवा लेना और किसी की सेवा न करना।

यह अव्यवस्था—जिसे वर्ण-व्यवस्था का नाम दिया गया है—यदि इसे 'धर्म' का सहारा न हो तो क्या यह दो घड़ी भी खड़ी रह सकती है?

और छह-सात करोड़ लोगों को "अछूत" मानना! वे "अछूत" ही पैदा हों, "अछूत" ही जीएँ और "अछूत" ही मर जाएँ। उन्हें दुनिया में कोई चीज 'पवित्र' न कर सके! क्या यह 'धर्म' की ही कृपा नहीं है?

ऐसा क्यों है? इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि दुनिया में शक्तिशाली की इच्छा का नाम ही 'न्याय' है। धर्म का एक बड़ा हिस्सा वर्ग-विशेष की इच्छाओं की ही छाया-मात्र है।

और दूसरा कारण यह कि एक समय समाज-हित के विचार से जो नियम बनाए जाते हैं या जिन्हें स्वीकार किया जाता है वे कालान्तर में निरुपयोगी ही नहीं समाज-हित के बाधक बन जाते हैं।

और वह 'धर्म' ही क्या, जो बदलते हुए समाज के साथ-साथ स्वेच्छा से बदलता रहे! यदि धर्म में यह सामर्थ्य होती तो मानव-इतिहास में इतनी क्रांतियाँ ही क्यों होतीं? धर्म का काम है धारण करना, पकड़े रहना। यह काम 'धर्म' का नहीं कि वह निरन्तर 'प्रगतिशील' हो; यह उसका स्वभाव ही नहीं है।

'धर्म' और 'समाज' के नाम पर आदमी जब 'समाज' का इतना अकल्याण होता देखता है, तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या किया जाय?

कुछ लोगों का मत है कि झूठे 'धर्म' का खण्डन और सच्चे 'धर्म' का प्रचार किया जाय; किन्तु कुछ लोग धर्म-मात्र के खण्डन के पक्षपाती हैं।

'सत्य' 'अहिंसा' आदि धर्म के जो दस लक्षण हैं, वह आज सभी की जिह्वा पर हैं। धर्म-प्रचार कोई सिग्रेट अथवा सिनेमा-प्रचार नहीं जो आर्थिक 'चीखने-चिल्लाने' से हो सके। सत्य बोलना एक चीज है और सत्य बोलने का प्रचार करना बिल्कुल दूसरी चीज। पहला काम किसी माई के लाल का है और दूसरा तो हर आदमी, जिसकी जीविका का साधन 'धर्म-प्रचार' है, कर ही सकता है।

किन्तु, कोई 'माई का लाल' भी आज के 'समाज' में क्या खाकर सत्य बोलेगा ?

विश्वास न हो तो 'सत्य' बोलकर देखिए, कैसी बे-हिसाब की पड़ती है। इस 'सत्य' बोलने ही ने न जाने कितनों को जहर के प्याले पिलाए, न जाने कितनों को फांसी के तख्तों पर झुलाया और न जाने कितने आज भी जेलों में पड़े सड़ रहे हैं।

तब क्या धर्म-मात्र का खण्डन किया जाय ? नहीं, धर्म का खण्डन करने से भी धर्म जिद ही पकड़ता है। धर्म-प्रचार से जिन लोगों की स्वार्थ-सिद्धि होती है वे आपके मुकाबले पर एक-से-एक बढ़कर बुद्धि-व्यभिचारी को लाकर खड़ा कर दे सकते हैं। आप धर्म-खण्डन करके उनसे पार नहीं पा सकते।

तब ? उपाय केवल एक है। वैज्ञानिक ढंग से सभी धर्मों का स्वाध्याय-अध्ययन !

शायद आप यह कहें कि मैं आज दिन होनेवाले सर्व-धर्म-सम्मेलनों का बहुत बड़ा पक्षपाती हूँ। न, बिल्कुल नहीं।

लोग कहते हैं सर्व-धर्म-सम्मेलनों से शांति होगी। उस दिन कानपुर के घसियारों की मण्डी देखी थी। सभी एक जगह बैठकर अपनी-अपनी घास बेच रहे थे। हल्ला था कि कान फटे जा रहे थे। सभी

धर्मवाले एक ही जगह इकट्ठे होकर यदि अपने-अपने धर्म की नीलामी बोलने लगें तो क्या उससे कहीं कुछ शांति हो सकती है ?

हमारी समझ में दो बातें कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। एक तो अब यह 'अपने' और 'पराये' धर्म का भेद मिट जाना चाहिए। मानव ने सृष्टि के आदिकाल से जितने धर्मों को जाना-पहचाना है उन सब धर्मों पर हर मानव-बच्चे का अधिकार है। उसे जो बात जहाँ से अच्छी मिले वहां से लेने और तदनुसार चलने का अधिकार होना चाहिए।

दूसरे, ज्ञान के क्षेत्र में से यह 'धार्मिक' और 'लौकिक' का मिथ्या वर्गी-करण उठ जाना चाहिए। या तो सभी ज्ञान 'धार्मिक' है या सभी ज्ञान 'लौकिक' है।

यदि 'धार्मिक' ज्ञान की किताब कहती है कि जमीन चपटी है, और 'लौकिक' ज्ञान की किताब कहती है कि गोल है तो दोनों कथनों में जो सत्य लगे उसे ग्रहण करना हर किसी का 'धर्म' होना चाहिए।

सभी जगह से ज्ञानार्जन और सभी मनुष्यों के प्रति मैत्री—यही आज के मानव का 'धर्म' है। दूसरा कुछ हो हीं नहीं सकता।—

सभी प्राणी सुखी हों ! *

---

* आल इण्डिया रेडियो, नागपुर के सौजन्य से

: ७ :

संस्कृति

महात्मा भगवानदीनजी

संस्कृति के रूप

संस्कृति पर इतना लिखा जा चुका है जिसकी न कोई हद है और न हिसाब। कभी ऐसा समय आएगा कि संस्कृति पर लिखने की जरूरत न रहेगी, ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती। सारे धर्मों के दर्शन-शास्त्र, सारे ऋषियों के नीति-शास्त्र, सारे कवियों के पुराण और सारे पुरोहितों के आचार-शास्त्र संस्कृति पर लेख नहीं तो और क्या है? और संस्कृति देवी हैं कि वे इतने पर भी सबके लिए सर से पैर तक बुरका ओढ़े खड़ी हैं। आये दिन उनके बारे में ये सवाल उठते रहते हैं कि ये संस्कृति देवी हैं क्या चीज? जहाँ देखिए इनकी चर्चा मिलेगी। आए दिन इनके बारे में वाद-विवाद होते रहते हैं। ये देवीजी एक थीं, एक हैं और सदा एक ही बनी रहेंगी। फिर भी लोग इन्हें अनेकों नामों से पुकारे बिना कभी न मानेंगे। चांद-सूरज एक एक हैं पर लोग उन्हें मून (moon) और सन (sun) नाम देकर ही तसल्ली नहीं करते, उनको तसल्ली तभी होती है जब वे चांद को बर्तानिया का चांद और सूरज को बर्तानिया का सूरज कहकर पुकारते हैं। ऐसा कहकर बोलने में एक बर्तानवी के मुंह में जैसी मिठास मालूम होती है वैसी चाद-सूरज कहने में नहीं। इस तरह की मिठास लोगों से छीनी भी क्यों जाय? उनको दुःख देने से हमारे हाथ क्या आएगा? संस्कृति के इसी तकाज़े ने हमें मजबूर कर दिया कि हम भारतीय संस्कृति, योरोपीय संस्कृति, अमरीकी और रूसी संस्कृति जैसे बोल सुनते रहें और सुख के साथ उन्हें बरदाश्त करते रहें। इस बीसवीं सदी में तो संस्कृति के नाम इतनी तेजी से बढ़ रहे हैं जितने बरसात में मेंढक भी

नहीं बढ़ते। जैसे हिन्दू संस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, जैन संस्कृति, श्रमण संस्कृति, सनातन संस्कृति। और अगर गोंड़, भील, संथाल कुछ दिनों में कालेजों की हवा खाने लगें तो गोंड़, भील, संथाल संस्कृतियाँ भी बहुत जल्दी ही इस देश में जन्म ले लेंगी। यह दूसरी बात है कि वे गोंड़, भील, संथाल जो आज संस्कृति के सच्चे मानों में बहुत से माने हुए संस्कृत सफेदपोशों, पंडों और मुल्लाओं से कई गुना संस्कृत हैं, गोंड़, भील, संस्कृति के जन्म लेने पर इतने भी संस्कृत न रह जायेंगे। पर समझे जायेंगे आजसे कई गुना संस्कृत। आज के जमाने में संस्कृत होना इतना जरूरी नहीं है जितना संस्कृति की छाप आदमी पर लगा होना। बस संस्कृति जैसे जैसे जितने नाम वाली होती जा रही है वैसे वैसे वह उतनी ही असंस्कृति की ओर बढ़ती चली जा रही है। और इस सब की जड़ में बात इतनी ही है कि आज हम यह बिलकुल भूल बैठे हैं कि संस्कृति शब्द से हमारा मतलब क्या है, हम क्या कहना चाहते हैं या थोड़ी गूढ़ भाषा में इस का वाच्य क्या है ? अगर इसका ठीक ठीक पता लग जाय तो आशा तो है कि फिर यह एक नाम वाली देवी अनेक नामों वाली न रह जायगी। गाय की तरह इस के तरह तरह के रंग रहेंगे, जगह जगह सिंगौटी भी अलग अलग रहेंगी, खुरों के रूप में भी थोड़ा-बहुत अन्तर रहेगा, पीठ, पूंछ और कुब भी हर जगह एक से न होंगे, गले के नीचे लटकने वाला गलुआ भी छोटा-बड़ा हो सकता है पर जिस तरह गाय के इन भेदों के रहते गाय सब जगह गाय कहलाती है वैसे ही संस्कृति भी सब जगह संस्कृति कहलायगी। इतना ही नहीं जिस तरह गाय के बाहरी भेदों की वजह से दूध के रंग-ढंग पर कोई असर नहीं पड़ता, उसी तरह संस्कृति के बाहरी भेदों, जिनका इकट्ठा नाम पहले ही से सभ्यता पड़ चुका है, की वजह से उसके रस में कोई भेद न आने पायेगा। सीधीसादी बोली में यों समझिए कि सब संस्कारी आत्माओं का बर्ताव बिल्कुल एक-सा नहीं तो करीब करीब एक-सा रहेगा।

संस्कृति का अर्थ

शब्द के सीधे-सादे अर्थ लेने से बात बहुत जल्दी समझ में आ जाती है और पुराने शब्दों के बारे में तो बात सोलह आने ठीक बैठती है। अनपढ़ आदमी सीधा-सादा था। उसमें गुस्सा भले ही ज्यादा रहा हो पर आपाधापी उससे काफी दूर थी। वह धोखा देता था, पर अपनी खुराक के खातिर जानवरों को। आदमियों को बहुत कम धोखा देता था। वैसी उसे जरूरत भी नहीं थी। इसलिए वह जो शब्द बनाता था उसके दो माने बहुत ही कम होते थे। असल में उन दिनों भाषा सच्चे मानों में मन के भावों को प्रकट करने का खरा साधन थी। पर आज वह मन के भावों को छिपाने के लिए पक्का साधन बन बैठी है। अनेक अर्थों वाला शब्द गढ़ने वाला आदमी किन विचारों का रहा होगा इसपर बहस करने का यह स्थान नहीं है। यहाँ तो हमें सिर्फ इतना ही जानना है कि शब्द के जितने कम अर्थ हों उतना ही अच्छा। और सिर्फ एक अर्थ हो तो सबसे अच्छा। अब संस्कृत शब्द के कितने ही अर्थ क्यों न हों पर एक अर्थ सब के मुँह पर चढ़ा हुआ है और वह है संस्कार किया हुआ। यह ठीक है कि संस्कार शब्द जितना शहर में बोला-समझा जाता है, उतना गाँव में नहीं; पर यह गाँव में पहुँच जरूर गया है। पर इसका मतलब जितना ठीक शहर वालों को आता है उतना गांववालों को नहीं। कुछ भी हो संस्कार शब्द को थोड़ा-बहुत समझते सब हैं। संस्कार का सीधा-सादा अर्थ है साफ किया हुआ, मांजा हुआ, धोया हुआ, तपाया हुआ, मैल दूर किया हुआ या और किसी भी तरह शुद्ध किया हुआ। फिर चाहे वह मिट्टी से शुद्ध किया हो, चाहे पानी से, हवा से, समय से, स्थान से, भावों से, कल्पना से, मंत्रों से, या किसी और तरीके से। यों तो संस्कार और चीजों का भी होता है पर यहाँ संस्कार से हमारा मतलब है आदमी का संस्कार। अब जो आदमी को कोरा पांच भूत का पुतला मानते हैं उनके लिए तो नहाना,

धोना और कंघी करना संस्कार रह जाता है। और जरा आगे चलें तो तेल मलना और चन्दन लगाना भी संस्कार में गिना जा सकता है और फिर सब तरह की सजावट भी उसी संस्कार में शामिल हो सकती है पर जो लोग आदमी को सिर्फ मुट्ठी भर धूल नहीं समझते पर यह मानते हैं कि उसके अन्दर परमात्मा का अंश आत्मा भी है या आत्मा के रूप में परमात्मा भी है, उनके लिए बाहरी टीप-टाप कुछ रहती तो है पर उनको कोई बड़ी जगह नहीं मिलती। उनके लिए संस्कार का अर्थ रह जाता है इस देह में रहने वाले देही यानी आत्मा की सफाई। जिन लोगों की पहुँच किसी वजह से आत्मा-परमात्मा तक नहीं है वे भी देह की सफाई को इतना महत्त्व नहीं देते जितना मनकी सफाई को। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' ऐसे ही भले मानसों की कहावत है। व्यवहार में भी दिल की सफाई पर बेहद जोर दिया जाता है। दिल का साफ आदमी ही खरा आदमी माना जाता है। और गांववाले तक ऐसे आदमी को संस्कारी जीव कहकर उसकी सराहना करते हैं। इन सबसे यही पता चलता है कि संस्कार बाहरी देह का होता तो है पर उससे आदमी संस्कृत नहीं माना जाता। संस्कृत तभी माना जाता है जब उसके दिल का संस्कार कर दिया गया हो यानी जब उसका मन इतना साफ हो गया हो कि वह यह समझने लग गया हो कि सबके भीतर अगर आत्मा नहीं है और परमात्मा भी नहीं है तो मन तो है ही। और वह मन दुःख-सुख मानता है तो जिस तरह मेरा मन दुखता है वैसे दूसरे का मन भी दुःख मानता होगा। इतनी समझ आ जानेपर वह दूसरों के साथ व्यवहार करने में कम से कम भूलें करने वाला आदमी संस्कारी या संस्कृत नाम पा सकता है और दूसरों के साथ इसका व्यवहार संस्कृति नाम से पुकारा जा सकता है। अब अगर ऐसा आदमी लंगोटी बांधकर रहे तो भी संस्कृत समझा जायगा और कोट-पतलून डाटकर रहे तो भी संस्कृत समझा जायगा। अब चाहे वह चोटी

रखावे या दाढ़ी रखाये, तिलक लगाये या माथा साफ रखे, जनेऊ पहने या कुछ न पहने, नमाज पढ़े या पूजा करे, मूर्ति पूजे या न पूजे, कुछ भी खाये-पीये या कैसे भी रहे-सहे संस्कृत ही समझा जायगा और उसकी संस्कृति की और लोग नकल करेंगे ही। संस्कृति की नकल सिर्फ इतनी ही होगी कि नकल करने वाला यह ध्यान रक्खे कि दूसरे के साथ व्यवहार करने में वह कोई ऐसी बात तो नहीं कर रहा जिससे उसका मन दुख रहा हो। जो आदमी उस संस्कारी के ओढ़ने-पहनने या खाने-पीने की नकल करता है अगर वह व्यवहार में उस-जैसा नहीं है तो वह संस्कारी नहीं कहला सकता, क्योंकि फिर तो वह उसकी शीशे में पड़ी छाया मात्र रह जाता है। उसे कोई धोखे में आकर संस्कारी भी कह सकता है, जिस तरह आज भी गांधी टोपी पहनने वाले गांधी जैसे भले आदमी भी समझ लिए जाते हैं। पर जब उनको धोखे का पता लगता है तो पछताना ही पड़ता है। बस, संस्कार से मतलब है मंझा हुआ दिल या मंझा हुआ आत्मा। संस्कृति से मतलब है मंझन यानी यह कि किसने कितना अपना आत्मा मांझ लिया है या साफ कर लिया है। संस्कृति का इसे छोड़कर अगर और कोई अर्थ लिया गया तो धोखा ही रहेगा। हो सकता है कभी धोखा न भी रहे पर इतने कम लाभ के लिए धोखे के अर्थ को क्यों अपनाना?

संस्कृति की पहचान साफ दिल

यह सवाल हो सकता है कि अगर हम संस्कृति को पूरे रूप से आत्मा की मंझाई ही मान लें या दिल की सफाई ही समझ लें तो व्यवहार में इसे पहचानें कैसे? असल में साफदिल आदमी का पहचानना मुश्किल तो नहीं होना चाहिए। वह तो उल्टा आसान होना चाहिए। साफ दिल आदमी को तो अंधेरे में भी आग की चिन्गारी की तरह चमकना चाहिए। यह हो ही कैसे सकता है कि किसी गाँव में कोई

भला आदमी रहता हो और उसे गाँव वाले न जानते हों। आये दिन बरतनेवाली चीज से कोई कैसे अनजाना रह सकता है? फिर उस आदमी से किस की जान-पहचान न होगी जो अपने बरताव में खरा और भला है। फिर भी हो सकता है कि मेले-ठेले के अवसर हमें ऐसे आदमियों से पाला पड़ जाय जिन्हें हम बिल्कुल नहीं जानते। तब भी भले आदमी के परखने में बहुत देर नहीं लगेगी। हम बर्त्ताव के सिवा और पहचान भी क्या बतावें? हाँ, यह हो सकता है कि कोई मंझी आत्मा का नाटक कर रहा हो। और उस तरह के बर्त्ताव को कुछ देर के लिए अपना कर लोगों को अपने मतलब के लिए धोखे में डालना चाहता हो। पर इससे क्या? हम क्यों इस चिन्ता में पड़ें? उसका नाटक जल्दी खतम होगा और जल्दी ही लोगों पर से धोखे का पर्दा उठ जायगा। उसके धोखे में खरे आदमी नहीं आ सकते। धोखा खाने के लिए आत्मा का जितना खोटा होना जरूरी है उतना धोखा देने के लिए नहीं। जाल में फंसनेवाला चूहा उस आदमी से ज्यादा लालची होता है जो उसके लिए जाल तैयार करता है। धोखे की गहराई से जाँच करने पर वह इसके सिवा और क्या मिलेगा? कम दामों में ज्यादा दामों की चीज, कम मेहनत में ज्यादा मेहनत का फल, कम वक्त में ज्यादा वक्त का सुख। अब अगर कोई आदमी इस तरफ दौड़े तो वह धोखा देनेवाले को उल्टा धोखा देना चाहता है। इसलिए धोखे की चीर-फाड़ ने हम पर धोखेबाज का भेद खोलकर रख दिया और यह भी बता दिया कि धोखा देने और खानेवालों में से कौन ज्यादा धोखेबाज है। अब साफदिल की पहचान या खरे आत्मा की पहचान कहाँ मुश्किल रह जाती है? बस, मंझा हुआ आत्मा और साफ दिल ही संस्कारी नाम पाते हैं और दिल की सफाई और आत्मा की मंझाई ही संस्कृति नाम से पुकारी जाती है।

साफ दिल की रहन-सहन

बेशक, यह ठीक है कि मंझा हुआ आत्मा या साफ दिल रहन-सहन, खान-पान में भी औरों से निराला होगा। पर वह निराला रह नहीं सकेगा। क्योंकि लोग जल्दी ही उसकी नकल करने लगेंगे। क्योंकि उसके रहन-सहन और खान-पान में एक खास तरह का सुभीता आ जाता है और उससे तन को ही नहीं मन को भी सुख मिलता है। इस वास्ते उसका रहन-सहन और भी ज्यादा अपनाया जाता है और यों रहन-सहन के लिहाज से वह समाज में गुम हो जाता है। और दुनिया उसके रहन-सहन को संस्कृति नाम देकर एक नई लड़ाई की जड़ पैदा कर लेती है। तन के सुख के साथ जो थोड़ा बहुत मन का सुख मिलता था वह भी जगह बदलने पर मन के दुख में बदल जाता है। काश्मीर के खरे आदमी की रहन-सहन की अगर रामेश्वर में नकल की जायगी तो मन का सुख कैसे हाथ आयगा ? साथ में तन का सुख भी चला जायगा। और फिर खरा आत्मा जैसे जैसे और खरा होता जाता है, अपने रहन-सहन और खान-पान में वैसे ही वैसे और बदल करता जाता है। उसकी नकल भी कैसे हो सकती है ? लन्दन के गांधी, अफ्रीका के गांधी, और फिर हिन्दुस्तान के गांधी इनमें से किस की नकल की जाय और फिर सन् सोलह के गांधी, सन् बत्तीस के गांधी और सन् अड़तालीस के गांधी—किसके रहन-सहन और खान-पान को अपनाया जाय ? मंझा हुआ आत्मा और साफ दिल किसी की नकल करते हुए भी नकल नहीं करता। वह जो करता है अपने सुभीते के लिए और वह सुभीता भी यह कि उसे समाज-सेवा के काम में किसी तरह की अड़चन न आने पावे। नकल करने की बात हम यहाँ यों लिख रहे हैं कि खरा आत्मा कोई भी बाना अपनाये या कोई भी खाना खाये तो वह ऐसा नहीं होगा जो कभी किसी ने नहीं पहना या कभी किसी ने नहीं खाया। रहन-सहन और खान-पान का

संस्कृति से कोई सम्बन्ध ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। पर उस सम्बन्ध को सब कुछ बना बैठना संस्कृति के पेड़ की जड़ काट डालना है। बहुत ज्यादा कपड़े लादना अच्छी बात नहीं। कोई भी बढ़ता हुआ संस्कारी आत्मा एक दिन उस पर जरूर नजर डालेगा और उसको निरा बोझा ही समझेगा और फिर झट कम कर देगा। इससे यह नतीजा निकाल बैठना कि बहुत ज्यादा कपड़े पहननेवाले असंस्कृत होते हैं, कितनी बड़ी भूल भरी बात हो जायगी। मांसाहार का भी यही हाल है। संस्कारी आत्मा की नजर एक दिन उस ओर जाती ही है। इसलिए किसी आदमी को सिर्फ इस वजह से असंस्कृत कह बैठना कि वह मांसाहारी है या अमुक प्रकार के मांस का आहार करता है, भूल से खाली नहीं होगा। संस्कृति पर लिखनेवाले इसलिए खान-पान, रहन-सहन को संस्कृति का अंग बनाकर संस्कृति के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं और संस्कृति की आत्मा के साथ बड़ी नाइन्सानी कर बैठते हैं।

संस्कारी का उत्थान-पतन

जिस तरह साफ किए हुए कपड़े साफ बने नहीं रहते, मैले होते रहते हैं। इतना ही नहीं, मैले होने के लिए ही कपड़े साफ किए जाते हैं। दुनिया बनी ही इस किस्म की है कि उसमें साफ की हुई भी चीज साफ नहीं रह सकती और न किसी को ऐसी आशा करनी चाहिए कि वह साफ ही बनी रहेगी। दुनिया में यह हाल आत्मा और मन का भी होता है। साफ किया हुआ मन व्यवहार में पड़ने से थोड़ा बहुत मैल पकड़ ही लेता है। मंजा हुआ आत्मा व्यवहार में पड़कर थोड़ी बहुत चमक कम करता ही है। इसीलिए तो सुबह-शाम राम-भजन की व्यवस्था की गई है। राम-भजन का आत्मा मांजने या दिल साफ करने के सिवा और अर्थ ही क्या होता है? जब जब हम अपने से बहुत ज्यादा खरी आत्माओं का हद से ज्यादा गुण-गान करने लगते हैं तब-तब हम अपनी आत्मा के

खरेपन को और अपने दिल की सफाई को कुछ कम ही करते हैं। यह बात कानों को भले ही कुछ खटकती हो, पर बात सच्ची है। खरी आत्माएँ रिवाज के बहाव में बहती नहीं और अगर कभी बहती हैं तो बहने के बाद अपने को फिर से मांजती हैं। बाढ़ की नदी में नहा कर किस की तसल्ली हुई है! फिर साफ पानी से नहाना ही पड़ता है। समुन्दर में भी जरूरत से नहाया जाता है, तन की सफाई के लिए नहीं। खरी आत्माओं की यादगार में जिसने बड़ी बड़ी इमारतें खड़ी की, जिस जिसने बड़े-बड़े काव्य लिखे या जिसने जो कुछ किया वह निरा बाढ़ में बहा। पर करता क्या! सैकड़ों से अच्छा रहा। पर इस काम में उसके दिल की सफाई और आत्मा का खरापन बेदाग न रह सका। एक चारण राजा के सामने राजा के गीत गाता अपने को बड़ा समझना चाहे तो समझ ले पर राजा उसे इनाम देकर उसे कब बड़ा रहने देगा। खरी आत्माएँ और साफदिल भी बाढ़ में बहने से नहीं बच पाते। नतीजा यह होता है कि कुछ तो ऐसे बहते हैं कि फिर किनारे ही नहीं लगते और कुछ किनारे लगकर नहा-धोकर स्वच्छ हो जाते हैं और फिर खरे आत्मा की तरह दुनिया के व्यवहार में जुट जाते हैं। आज संस्कृति पर जितना साहित्य है वह ऐसे ही बाढ़ में बहे हुए आत्माओं की कृति का गुण-गान है। आज संस्कृति में जिन जिन चीजों की गिनती की जाती है उन की गहराई से जांच की जाय तो यही पता लगेगा कि हम संस्कृति की जगह असंस्कृति को आसन पर बिठा रहे हैं। ऊंचे दरजे की संस्कारी आत्माएँ तो चोर को चोर कहने में भी संस्कार को धक्का लगना मानती हैं फिर वे असंस्कृति को भी असंस्कृति कैसे कह देते क्योंकि उस को तो संस्कृति नाम दे दिया गया था। और अब तो संस्कृति को असंस्कृति कहना था। यह तो उनको और भी सहन नहीं हो सकता था। फिर भी कहीं कहीं से आवाज उठी कि यह सभ्यता महारोग है। और

सभ्यता के ढांचे को ही तो लोगों ने संस्कृति नाम दे रक्खा है। रहन-सहन को या इससे सम्बन्ध रखनेवाले और कामों को संस्कृति कहने से एक ऐसा तूफान खड़ा हो गया है जिसमें संस्कृति इस तरह बह गई है कि ढूंढे नहीं मिलती और उसके नाम से छाई हुई असंस्कृति ही संस्कृति बन बैठी।

हर आदमी की अलग संस्कृति

आइये इस नामधारी संस्कृति को समझ लें। अगर चोटी रखना हिन्दू संस्कृति है तो बंगाली हिन्दू नहीं रह जाते क्योंकि वे चोटी नहीं रखाते। बंगालियों को छोड़िए। पैदा हुए बालक तो एक ओर, सिर मुड़ाया संन्यासी भी हिन्दू नहीं रह जाता। यानी हिन्दुओं के माने हुए गुरू भी हिन्दू नहीं रह जाते। और इतना ही नहीं, चीनके चोटी रखाने वाले बहुत से मुसलमान भी हिन्दू हो जाते हैं। बहुत न कहकर हम मोटे रूप में यह कह देना चाहते हैं कि हिन्दू संस्कृति के नाम पर कहे जानेवाले रिवाजों में से एक भी रिवाज़ ऐसा नहीं है जिस पर सब जगह के हिन्दू हर हालत, और हर वक्त में अमल करते हों। दुनिया के सब मुल्कों और सब धर्मों में जिस-जिस तरह के रिवाज़ और जिस-जिस तरह का खान-पान और जिस-जिस तरह का ओढ़ावा-पहनावा चल रहा है वह सब-का-सब किसी न किसी रूप में कहीं-न-कहीं हिन्दुओं में चलता हुआ पाया जायगा। रहन-सहन, रीति-रिवाज़ को संस्कृति के साथ जोड़ना उसकी हंसी उड़ाना है और उसके टुकड़े-टुकड़े कर देना है। इस तरह से संस्कृति तो हर आदमी की अलग अलग है।

संस्कृति यानी आपसी व्यवहार

संस्कृति आपसी व्यवहार के सिवा कुछ और चीज़ है ही नहीं। संस्कार हमारे अन्दर का विकास है। हिन्दुओं ने जो सोलह संस्कार मान

रखे हैं उनकी जाँच करने पर भी यही पता चलता है कि वे उन संस्कारों के जरिए जिस का संस्कार करते हैं उसकी आत्मा को जगाना चाहते हैं और उसे यह बताना चाहते हैं कि उसके अन्दर वह बल मौजूद है जिसकी मदद से वह आत्मा के चारों तरफ छाये अंधेरे को हटा कर फेंक सकता है और उजाला पा सकता है या फैला सकता है। इसी को आप यों भी कह सकते हैं कि वह अपनी आत्मा को अपने बल-बूते ही मांज सकता है। और व्यवहार में सच्चा और पक्का साबित हो सकता है। किसी का संस्कार करते वक्त हम उसको सिर्फ आत्मा मांजना सिखाते हैं और यह बताते हैं कि समय समय पर उसको माजते रहना, तभी तुम इस दुनिया की यात्रा सुख के साथ कर सकोगे। संस्कार के समय कभी किसी आदमी को त्याग से ग्रहण का उपदेश ज्यादा नहीं दिया जाता। ग्रहण का उपदेश अगर दस दरजे का दिया गया तो त्याग का उपदेश पन्द्रह दरजे का दिया जाता है। यह ठीक है कि यह संस्कार बहुत पुराने हैं और उस समय के हैं, जब हिन्दू समाज बच्चा था। उसमें कुछ कमी रह सकती है। आज उसमें काफी हेरफेर किए जा सकते हैं। पर यहाँ तो समझना यह है कि संस्कारों से मतलब सिर्फ इतना ही निकाला गया है कि जिस का संस्कार किया जाय उसको यह समझा दिया जाय कि उसको आगे चलकर अपना दिल साफ करना है। अपना आत्मा मंजा हुआ रखना है और वह माजने का काम यही है कि वह अपने गुस्से, अपने घमण्ड, अपने लालच और अपने फरेब पर काबू पाये और उन्हें इतना वश में रक्खे कि वे उसकी आत्मा पर सवार न हो बैठें। और इस तरह उसकी चमक को कम न कर दें। इस तरह की बुराइयाँ ही उसे सच बोलने से रोकती हैं, औरों को सताने पर आमादा करती हैं, चोरी करने को उकसाती हैं, बुरी निगाह फेंकने को तैयार करती हैं और बेमतलब की चीज़ जमा करने के पागलपन में लगाती हैं और इस तरह से समाज की तराज़ू का पलड़ा एक तरफ को

झुक जाता है और दूसरी तरफ का पलड़ा डांवाडोल हो जाता है और समाज के अमन-चैन में तहलका मच जाता है।

संस्कृति का आधार : आदमी

संस्कृति का गान करते हुए राजाओं की लड़ाइयों का जब जिक्र आ जाता है तब संस्कृति पर लिखने वाले विद्वान कुछ ऐसे बहक जाते हैं कि वे ऐसी कह मारते हैं जिससे साफ मालूम होता है कि वह संस्कृति की जगह जंगलीपन की तारीफ कर रहे हैं और उस जंगलीपन को देवता बनाकर मन्दिर में बिठाना चाहते हैं! यह हम कुछ बढ़कर नहीं कह रहे। अगर आप गहरी निगाह डालेंगे तो ऐसे देवताओं के मन्दिर आप को दुनिया के हर मुल्क में मिल जायेंगे और हमारा देश भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं रह जायगा। ये सब मन्दिर संस्कृति के बेजा गुन-गान की देन हैं। संस्कृति की आत्मा की जगह उसके ढाँचेको संस्कृति मान बैठने का जो भी बुरा फल हो, वह थोड़ा ही है। जब तक संस्कृति की जगह उसकी आत्मा की स्थापना नहीं की जायगी और उसीपर जोर नहीं दिया जायगा तबतक न संस्कारी पुरुष पैदा हो सकेंगे और न संस्कृति जीते-जागते रूप में मिल सकेगी। संस्कृति का आधार आदमी है। मानव-समाज है। उस का आधार मन्दिर, महल, कपड़े-लत्ते, पोथी-पुस्तक नहीं हैं। ये मील के पत्थर हैं। इन्हें इतना ही समझने से काम चलेगा। इन्हें आखिरी मंजिल समझ बैठने से कुछ भी हाथ न आयेगा। क्या उस ऋषि की बात याद नहीं है जिसने भूल से एक आम बाग के मालिक से पूछे बिना तोड़ कर खा लिया था और जो आत्मा में चमक आने के बाद सीधा राजा के पास पहुँचा था और अपने किये की सजा मांगी थी और अपना हाथ कटवाये बिना उसकी तसल्ली नहीं हुई थी। क्या यह कथा इस बात को नहीं बताती कि आत्मा मांजने पर मैला होता रहता है और उसे हमेशा मांजते रहना चाहिए और यह कि आत्मा का मांजना ही संस्कृति का नाम

पाता है। किसी देश की संस्कृति उस देश की इमारतें या उस देश का साहित्य नहीं हुआ करता पर उस देश के भले आदमी हुआ करते हैं जो उस देश में आये यात्रियों के मन पर ऐसा असर छोड़ देते हैं जिसे वे कभी नहीं मिटा पाते। और इसी तरह संस्कृति एक देश से दूसरे देश में फैलती रहती है।

अपने को वश में करना ही मानव संस्कृति

विकासवाद यह बताता है कि कीड़ा ही विकसते विकसते आदमी बन गया। विकासवाद की गहराई में न भी जायं और सिर्फ एक आदमी के ही उसके गर्भ के पहले दिन से उसके मरने तक के इतिहास पर नज़र डाल जायँ तो हमें पता चलेगा कि आदमी सचमुच कीड़े से विकस कर आदमी बना है। गर्भ के पहले दिन तो वह कीड़ा ही नहीं बल्कि इतना छोटा जर्म होता है कि आदमी की आँख उसे नहीं देख सकती। माँ के पेट के अन्दर वह कीड़े से भी गई-बीती हालत में रहता है। इसे भी जाने दीजिए। पैदा होने के बाद भी वह कीड़े से क्या ज्यादा होता है ? पशु-पक्षियों के बच्चे आदमी के बच्चे से जल्दी बड़े और समझदार होते हैं और अपना स्वाधीन जीवन शुरू कर देते हैं। यह ठीक है कि वे एक सीमा के अन्दर ही तरक्की कर पाते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ पाते। इसीलिए वे कई बातों में आदमी से ज्यादा संस्कृत होते हुए भी संस्कृत नहीं माने जाते। स्वामि-भक्ति में आदमी कुत्ते का क्या मुकाबला कर सकता है ? इसी तरह घोड़े का भी आदमी क्या जोड़ है ? पर कुत्ता-संस्कृति और घोड़ा-संस्कृति नाम की संस्कृतियां सुनने में नहीं आतीं। मनुष्य में सब जानवरों से और कुत्तों और घोड़ों से भी बढ़कर एक खासियत है। वह यह कि अपने साथियों का ही नहीं, पशु-पक्षियों तक का सुख-दुख जान और समझ सकता है। उनका सुख-दुख देख कर उसके मन के भावों में लहरें उठने लगती हैं। उस का उस के मस्तक पर

असर होता है जो मस्तक उसको दूसरों के सुख-दुख में शरीक होने का हुक्म देता है-और वह उसके हुक्म पर थोड़ा-बहुत अमल भी करता है। यह हुक्म असल में मस्तक का नहीं होता, अन्तरात्मा का होता है। मस्तक तो अन्तर-आत्मा के हाथ का औजार है। अब आत्मा जितना संस्कृत यानी मंझा हुआ होगा उतना ही मनोभावों और मस्तक के विचारों में मेल बिठा सकेगा। बस इसी मन-मस्तक के मेल बिठाने का नाम मानव-संस्कृति है। और यह देश और धर्म के नाम से या वंश और नस्ल के नाम से किसी तरह अलग नहीं की जा सकती। आत्मा की मंझाई जब इस हद तक पहुँच जाती है कि वह अपना आत्मा और दूसरों में रहने वाले आत्मा में कोई भेद ही नहीं कर पाता तब उस से दुनिया की चीज़ों से और अपने तन से बेजा मोह-ममता दूर हो जाती है और उसका रहन-सहन कुछ इस ढग का हो जाता है कि लोग उसे देवता कहकर पुकारने लगते हैं। अब वह अपनी जरूरत के मुताबिक खाता-पीता-पहनता है और अपनी शक्ति के अनुसार काम करता है। इस तरह से आदमी को लोग साधु कहने लगते हैं। अब दुनिया की कोई चीज़ उसकी नहीं रह जाती। यानी वह सब चीज़ों को सबकी समझता है। ऐसा ही आदमी मानव-संस्कृति का निशान बन जाता है। ऐसा आदमी चाहे कभी रहा न हो, पर हर आदमी किसी-न-किसी वक्त कभी-न-कभी अपने जीवन में थोड़ी देर के लिए इस अवस्था को पहुँचता जरूर है और उस उतनी देर का इतना गहरा असर उस के मन पर रह जाता है कि वह उसे उमर भर नहीं भूलता। संस्कृत आत्मा को अपने किए हुए कामों पर बहुत कम पछताना पड़ता है या बिल्कुल नहीं पछताना पड़ता। उसे तो उन भलाई के कामों की भी याद नहीं रहती जो उसने दूसरों के साथ किए होते हैं। भलाई करना उसका स्वभाव बन जाता है और वह स्वभाव स्वयं आत्मानन्द में बदलता रहता है। इसलिए उसको भले कामों की याद आनन्द का

कारण नहीं होती बल्कि आत्मा का वह हल्कापन आनन्द का कारण होता है जो उसने ममता और खुदी छोड़ कर सहज में ही पा लिया होता है। यही है मानव संस्कृति का निचोड़। यह आदर्श जरूर है पर पहुँचना वहीं है। वहाँ पहुँच कर संसार के महल-मकान, कल-कारखाने, पोथी-पुस्तक, शाल-दुशाले, सोना-चांदी आडम्बर बन जायेंगे। आदमी जितना जितना इस बाहरी आडम्बर में रस लेता है उतना ही वह आत्मा को मैला करता है और उतना ही वह असंस्कृत है। यह ठीक है कि संसार के सब आदमी इस दरजे तक नहीं उठ पाए हैं और जो नहीं उठ पाएँगे उनकी वजह से जो उठ गए हैं वे भी इस आडम्बर जाल से न निकल पाएँगे। तब फिर इस आडम्बर की इतनी बुराई क्यों? आडम्बर को आडम्बर कहना बुरी बात नहीं। गुड़िया को गुड़िया कहना ठीक है। पर बालक के गुड़िया खेलने और उस बालक के बाबा के गुड़िया खेलने में जमीन-आसमान का अन्तर है। बालक गुड़िया में बे मतलब के दुख-सुख की स्थापना करता है और फिर उसी का साथ देकर रोता-हंसता है और सच्चे जी से दुख-सुख मानता है, जब कि उसका बाबा उसके साथ रो-हंसकर भी न रोता है न हंसता है। बस, मानव-संस्कृति अपने को वश में करने का दूसरा नाम है।

निर्मल मानवता ही संस्कृति

संस्कृति निर्मल मानवता के सिवाय और हो ही क्या सकती है? इन्सानियत के बिना इन्सान को संस्कृत कहना भेड़िये को इन्सान कह डालने जैसा है। मानव-धर्म में रंगे मानव के काम ऐसे हो ही नहीं सकते जिन पर कोई किसी दृष्टि से भी उंगली उठा सके। जिस इतिहास में राजाओं की लड़ाइयों का ही वर्णन हो वह इतिहास मानव की मानवता का इतिहास नहीं है। वह तो उस वक्त का इतिहास है जिस वक्त मानव मानवता भूलकर अपने अन्दर के परमात्मा को इतना भूल जाता है कि

उसे यह याद ही नहीं रह जाता कि वह अपनी धुन में जो काम किए जा रहा है वह पशुता से अगर गिरा हुआ नहीं है तो बराबर का जरूर है। आदमी को शेर के नाम से पुकारने लगना क्या किसी संस्कृत आदमी की सूझ हो सकती है? बुराई का बदला भलाई से देने की बात पशु को सूझ ही नहीं सकती। और यही तो मानव-संस्कृति है। कुत्ते और घोड़े मार खाकर भी मालिक को प्यार से चाटते हैं। पर मालिक को ही चाटते हैं। इस बुराई के बदले भलाई की जड़ में दासता और भय है। पर आदमी घर में आये चोर को माल उठवा देता है और घर में आये डाकू के सामने निडर होकर अपनी गरदन झुका देता है, इसकी जड़ में आत्म-विश्वास और परमात्म-विश्वास रहता है। तभी तो चोर एक क्षण में साहू बन जाता है और डाकू साधु बन जाता है। असल में संस्कृति भूतल पर स्वर्ग की रचना कर देने का दूसरा नाम है। स्वर्ग तो कल्पना की चीज है। संस्कृत मानव का बनाया हुआ स्वर्ग उस कल्पना के स्वर्ग से कई गुना बढ़िया होगा। मगर होगा तभी जब दुनिया के बाहरी आडम्बरों को हमारे विद्वान संस्कृति के नाम से पुकारना छोड देंगे। आज वे विद्वान् अपनी आँखों उसका बुरा नतीजा हिन्दुस्तान में देख सकते हैं। और मुल्कों की वह संस्कृति जिसका आज के विद्वान गीत गा रहे हैं, यों ही नहीं खड़ी हो गई। उसकी जड़ में भी सैकड़ों संस्कृत और सैकड़ों निर्दोष प्राणियों का घोर कष्ट है। इसी तरह आज हिन्दुस्तान की आडम्बर वाली संस्कृति की जड़ में मानव-कष्टों के सिवाय ढूंढने पर और क्या मिल सकता है! भंजा हुआ आत्मा या चमकता हुआ आत्मा महलों से भागता है, आडम्बरों से बचता है। फिर उन आडम्बरों की संस्कृति का निशान भी कैसे कहा जा सकता है और उसको संस्कृति कह बैठना तो कितनी भारी भूल समझा जा सकता है? शराब पानी जैसी पतली होती है पर उस से प्यास कभी नहीं बुझी। महल झोंपड़ी ही की तरह सर्दी, गर्मी,

बरसात से बचता है पर उससे शांति कभी नहीं मिलती। एक बोतल शराब ने अनाज और फल को आग लगाई है। वह पानी का ढोंग रचकर प्यास कैसे बुझा सकती है? एक महल ने सैकड़ों नर-नारियों को सैकड़ों घंटों तक सरदी, गर्मी, बरसात के दुःख दिखाए और दिए हैं। वह सर्दी, गर्मी कम कर सकता है पर सर्दी, गर्मी, कम होने से मिलने-वाली शान्ति वह किसी तरह नहीं दे सकता। बेजा आडम्बर घमण्ड को मोटा करता है। उसका उस संस्कृति से क्या सम्बन्ध हो सकता है जो घमण्ड को घिस कर मिट्टी में मिलाने पर तुली हुई है। घमण्ड छुटाई-बड़ाई की मियाद डालता है, ऊंच-नीच को जन्म देता है। संस्कृति समता की जननी है। उसका और इसका क्या मेल? संस्कृति अभी तक इने-गिने आदमियों तक ही पहुँच पाई है। न किसी समाज पर छा पाई है और न किसी देश को अपना पाई है। कोई समाज या देश अगर अपने को इस वास्ते संस्कृत कहता है कि उसके एक या दो आद-मियों का संस्कृति के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है तो उसके कहने के बस इतने ही दाम उठेंगे जितने यूरप के अनेकों मुल्कों के ईसा के नाम पर अपने को ईसाई कहने के दाम उठ रहे हैं। जैसे ईसाई समाज का यह मतलब नहीं होता कि जिन आदमियों से वह समाज बना है वे सब ईसा जैसे भले हैं। वैसे ही हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन समाज का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह भले मानसों का समाज है। फिर समाजों और देशों के नाम पर संस्कृति को पुकारना खतरे से खाली नहीं है। आज कौन यह नहीं जानता कि ईसाई समाज का अर्थ है ईसा से एकदम उल्टा आचरण करनेवालों का समाज। तब ईसाई संस्कृति का जो अर्थ निकलेगा वह वही तो बताएगा जो ईसाई समाज अपने बनने के दिन से आज तक करता आया है। अब अगर संस्कृति का यही अर्थ है और इसी रूपवाली ईसाई संस्कृति होती है तब ऐसी ईसाई संस्कृति को तो लोग दूर से ही

नमस्कार करना पसंद करेंगे और फिर हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, श्रमण संस्कृतियों का कुछ कम बुरा हाल न होगा। यहाँ कोई यह सवाल उठा सकता है कि ऐसी शंका तो मानव-संस्कृति पर भी की जा सकती है। वह यह कि मानव-संस्कृति में मानव के वे सब भले-बुरे काम शामिल समझे जायेंगे जो उसने उस वक्त से जब कि उसने समाज का रूप लिया, आज के दिन तक समाज रूप से करता आया है। पर मानव-संस्कृति में हम उन सब कामों को कहाँ गिना रहे हैं। हम तो मानव-संस्कृति में उन्हीं कामों को लेते हैं जो मंजे हुए आत्मा अपनी उम्र के ज्यादा दिनों करते रहे हैं और आज भी अनेकों आत्मा खास खास अवसरों पर चमक-कर करती रहती हैं। हम तो यह कह चुके हैं कि संस्कृति ने समाज रूप से न अब तक किसी धर्मवालों को अपनाया है और न किसी देशवालों को। उसका नाता तो इने-गिने व्यक्तियों से रहा है या अनेकों की इनी-गिनी घड़ियों से। हाँ, जो संस्कृति को किसी धर्म या देशवाली मानते हैं उनके देश और धर्म के सब काम संस्कृति में ही गिने जाएँगे फिर चाहे वे बुरे हों या भले। गिने जायेंगे यह हम नहीं कह रहे। देश और धर्म के नाम से संस्कृति को पुकारनेवाले खुद ही संस्कृति के नाम पर उन कामों को ज्यादा गिनाते हैं जो संस्कृति के असंस्कृत पुजारियों ने संस्कृति के नाम पर कर डाले हैं। सीधे संस्कृति के काम भी इधर-उधर ढूंढने से मिल सकते हैं पर उनकी गिनती उस आडम्बर के ढेर में इतनी कम रह जाती है कि पढ़ने समझनेवाले को उसकी याद ही नहीं रहती। काव्य का अत्युक्ति अलंकार जितनी जल्दी लोगों की जीभ पर चढ़ता है उतनी काव्य के भीतर रहनेवाली सत्य और अहिंसा की कीर्ति पढ़नेवालों के मन पर असर नहीं कर पाती। इसीलिए देश-धर्म वाली संस्कृति की कथाएँ आत्मा को मांजने की जगह उसको मैला करने का काम ही करती रहती हैं। संस्कृति को देश या धर्म के नाम से पुकारना बेहद बुरी चीज़ है। इसे जल्दी से जल्दी छोड़ना चाहिए।

संस्कृति अखण्ड और शाश्वत है

मानव-संस्कृति सदा से एक है, आज भी एक है और सदा एक रहेगी। वह सब में एकात्मा को मानती है। वह व्यवहार में समता को चाहती है। उसे सब के सुख की परवाह है। वह सब का दुख दूर करना चाहती है। उसमें राजा और प्रजा का भेद नहीं है। उसमें मालिक और नौकर को स्थान नहीं है। उसकी नजर में दुनिया एक कुटुम्ब है और सारे मानव भाई-भाई हैं। उसके रहते कोई मनुष्य दुनिया की चीजों को तो क्या अपने तन तक को दूसरों का समझता है या समाज का मानता है। अपने मन और मस्तक को भी दूसरों की भलाई में लगाने की सोचता है। उसका सोचना-विचारना, बोलना-चालना, करना-धरना सब दूसरों के लिए होता है। वह अपने लिए कुछ नहीं करता और फिर भी सब कुछ उसके लिए हो जाता है। जिस तरह पेड़ न अपने फूलों को सूंघता है, न अपने फलों को चखता है, न अपनी छाया में रहता है, न अपनी सूखी लकड़ी से अपनी रोटी पकाता है फिर भी उससे गिरे हुए फूल, फल और पत्तों की सड़न और अपने तनपर पड़ी हुई छाया उसके काम आती ही रहती है और उसको पूरा तन्दुरुस्त बनाए रखती है। वैसे ही संस्कृत मानव स्वभाव से ही अपने किए का कोई फल नहीं चाहता। जब वह अपने किए का फल ही नहीं चाहता तो वह अपने लिए कुछ भी क्यों करे ? उसे तो जो कुछ करना है दूसरों के लिए और समाज के लिए। इसलिए उसे सदा सुख ही सुख हाथ आता है। फल के न मिलने का दुख उससे दूर रहता है और फल मिलने का बनावटी सुख उसे धोखा नहीं दे पाता। संस्कृति मानव-संस्कृति के सिवा और कुछ नहीं है और मंजी हुई आत्माओं के कामों का लेखा रखना ही संस्कृति का सच्चा गुण-गान होगा और उसी से एक एक आदमी का अलग अलग और सारे समाज का मिलकर भला होगा।

: ८ :

महावीर का मानव-धर्म

रिषभदास रांका

असन्तोष वहीं रहता है जहाँ विषमता होती है। असन्तोष से झगड़े-फसाद तथा युद्ध होते हैं और मानव-जाति पर आपत्तियाँ आती हैं। लोग दुःखी बनते हैं। दुःख मिटाने के लिए महान् पुरुष पैदा होते हैं। विषमता अधर्म है, पाप है। उसे मिटाने के लिए, धर्मसंस्थापना के लिए, जनता को सुख का मार्ग बताने के लिए, अनेक महान् पुरुष हो गए हैं। उनमें से भगवान् महावीर भी एक थे।

आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले भारत में धर्म के नाम पर विषमता की दीवार खड़ी थी। वर्णभेद के कारण छोटे-बड़े और ऊँच-नीच के भेद पैदा हो गए थे। स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ में काफी हिंसा की जाती थी। स्त्रियों का या मातृत्व का अनादर किया जाता था। उन्हें आत्म-विकास के लिए शास्त्र पढ़ने-सुनने की मनाही थी। धर्म के नाम पर होनेवाले इन अन्यायों को देखकर महावीर का हृदय द्रवित हुआ। वे विकल हो उठे। बहुजन समाज के दुखों से दुःखित हो उठे। उन्होंने सोचा जो कष्ट, दुख, अपमान मुझे अच्छा नहीं लगता वह दूसरे को कैसे अच्छा लगेगा? हर प्राणी सुख चाहता है। दुख कोई नहीं चाहता।

उनका जन्म संपन्न और संस्कारी कुटुम्ब में हुआ था। माता-पिता पार्श्वप्रभु के अनुयायी थे, जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार यामों की समाज कल्याणार्थ प्रतिष्ठा की थी। दूसरों को अपनी तरह समझ बर्ताव करने की सहज वृत्ति उनमें थी।

वे सोचने लगे : क्या दूसरे को—फिर वह अपने को कष्ट देनेवाला ही क्यों न हो—आत्मवत् मानना संभव है ? भावना कुछ भी कहे, लेकिन व्यवहार में तो कष्ट देनेवाले को वैरी ही माना जावेगा और मित्र को मित्र । तो क्या आत्मवत् सर्वभूतेषु यह कोरी कल्पना ही है ? नहीं, कल्पना तो नहीं हो सकती । लेकिन अनुभव बिना कैसे माना जाय कि आत्मवत् सर्वभूतेषु मानने में सच्चा सुख है ?

अपने-पराए का भेद शरीर तथा शरीर के संबंध से ही निर्माण होता है । और यही राग द्वेष का कारण है ! क्या यह दीख पडनेवाला शरीर या देह ही मैं हूँ ? यदि शरीर मैं नहीं हूँ तो आत्मा क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? शरीर को आत्मा से भिन्न ही माना जाय तो शारीरिक सुख-दुःखों का क्या आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? इसका अनुभव किए बिना कैसे माना जाय कि यह बातें सही हैं, क्योंकि शारीरिक सुख में ही आनन्द माननेवाले भी कम नहीं हैं ।

फिर कई आत्मवादी ऐसा भी मानते थे कि भले-बुरे कर्मों का आत्मा पर परिणाम नहीं होने देना दुःख से छूटने का मार्ग है । शरीर और आत्मा भिन्न हैं । इस मान्यता को जागृत रखकर चाहे जितने बुरे काम भी करने का रास्ता निकाल लिया जा सकता है ।

कई ऐसी मान्यतावाले लोग भी थे कि यह सृष्टि ईश्वर ने बनाई है, उसी ने हमें उत्पन्न किया । हम अपने सब कर्मों को उसे अर्पण कर दें, फिर हमें अपने कर्मों का पाप नहीं लग सकता ।

महावीर ने देखा कि इन मान्यताओं से भी लोगों के दुःख तो दूर नहीं हो रहे हैं । अवश्य ही ऐसा कोई मार्ग ढूंढना चाहिए जिस से सब का कल्याण हो, मंगल हो । पर यह बात बिना अनुभव प्राप्त किए तो नहीं बताई जा सकती थी । और अनुभव के लिए साधना की जरूरत होती है ।

तब उन्होंने माता-पिता को अपना निर्णय सुनाया कि वे साधुत्व स्वीकार कर अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। माता-पिता का उनपर बहुत स्नेह था।

उन्हें यह बात सुनकर दुःख हुआ। वे बोले, "बेटा, राजसी भोग-वैभव को त्यागकर तुम श्रमण बनों यह हमसे देखा नहीं जायगा।"

भगवान महावीर ने तीव्र वैराग्य-भावना होने पर भी माता-पिता की आज्ञा न मिलने से उनके जीवनकाल में दीक्षा नहीं ली। उनका स्वभाव सहज कोमल था। वे प्रेमभावना वाले थे। दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझते थे। इसलिए उन्होंने संयम रखा। माता-पिता की मृत्यु होने पर भाई के कहने से और दो वर्ष ठहर गए। तीस साल की उम्र होने पर उन्होंने साधना प्रारंभ की।

उन्हें संसार के दुःख का मूल ढूंढना था। और समाज-कल्याण का मार्ग बताना था। लेकिन वे आज के उपदेशकों की तरह "परोपदेशे" पण्डित नहीं थे। वे तो अनुभव लेकर ही कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने बारह साल तक कठोर साधना की। अनुभव प्राप्त किया। चाहे जितना कोई कष्ट दे तो भी मनकी समता न ढलने देने का उन्होंने चुप-चाप अभ्यास किया। आत्मा अमर है। शरीर नाशवान तथा अस्थिर-वस्तु है। शारीरिक सुख-दुःख यह आभास है, ऐसे कोरे तत्त्वज्ञान वाले संसार में बहुत मिलते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करनेवाले तो बिरले ही होते हैं। भगवान महावीर उनमें से थे जिनकी शान्ति महीनों भूखों रहने पर भी विचलित नहीं होती थी। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास का शरीर पर कम-से-कम परिणाम हो इस तरह से उन्होंने शरीर को कसकर आत्म-विकास का मार्ग ढूंढा।

उन्होंने कहा "जीओ और जीने दो" सब जीव सुख से जीना चाहते हैं। दुख भोगना या मरना कोई नहीं चाहता। लेकिन सुख से

तभी जीया जा सकता है जब हम दूसरों को सुख दें। सबकी भलाई में अपनी भलाई मानें। लेकिन जब मनुष्य कोई कार्य अपनी भलाई के लिए, स्वार्थ साधन के लिए शुरू करता है और वह भी धर्म की आड़ लेकर, तब वह अधर्म होता है। अपने को ऊँचा मानकर दूसरों को नीचा समझना या दूसरों के साथ बुरा बर्ताव करना अधर्म है। इसलिए सब जीवोंके प्रति उन्होंने साम्यभाव रखने को कहा। दूसरों को दुखी न कर, सुख प्राप्ति के लिए उस समय की परिस्थिति तथा प्रचलित रीति-रिवाज के अनुसार जैसा जीवन बिताना जरूरी था, वैसे उपाय बताए।

असमानता शारीरिक भोगों में सुख मानने से पैदा होती है। अपने शारीरिक सुख भोगों के लिए शोषण अपरिहार्य बन जाता है क्योंकि शारीरिक सुख के पीछे लगने पर मनुष्य दूसरे का शोषण किए बिना वह प्राप्त नहीं कर सकता। इस शोषण के लिये अर्थ सहायक होता है और अर्थ का संग्रह आवश्यक। इसलिए मनुष्य अपने जीवन का ध्येय संग्रह बना लेता है। भले ही परिग्रह अन्याय और अधर्म का पोषण करनेवाला हो लेकिन उसे वह त्याग नहीं सकता। क्योंकि हमने अपने जीवन का दृष्टिकोण ही ऐसा बनाया और ऐसी आदतें हमारी बन गई हैं कि बिना परिग्रह के सुख से जीवन-निर्वाह की कल्पना ही हम नहीं कर सकते।

शारीरिक सुखों के अतिरिक्त परिग्रह हमारे अहंकार का पोषण करने वाला भी होता है। मैं दूसरों से बड़ा हूं यह अहंकार हमें दूसरों से दूर करता है। वह दुःख पैदा करनेवाला है। लेकिन हम तो इसी धारा में बह रहे हैं। धन-संग्रह को हमने सुख और बड़प्पन का कारण मान लिया है, जिससे अपने जीवन को अशांत और दूसरों को दुखी बना रहे हैं। जो पढ़े-लिखे और ज्ञानी कहलाते हैं वे इस धन के पीछे पड़कर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल गए हैं। तभी आज असन्तोष की आग सुलग रही है। यह किसी खास वर्ग की बात नहीं पर सभी धन के पीछे पड़े हुए हैं।

जो धर्म सबका कल्याण नहीं साध सकता वह धर्म ही नहीं। धर्म के नाम पर हमने आचार या रूढ़ि को अपना लिया है। उससे न तो अपना कल्याण हो सकता है और न दूसरों का।

भगवान् महावीर ने संसार की सारी समस्याओं का हल अपने आप में देखा था। वे मानते थे कि जिसने अपने आपको जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। इसलिए वे "जिन" कहलाये। जो अपने को जीतता है वह सबको जीत लेता है। ऐसे अनेक जिनों में से वे एक थे। ऐसे जिन को अपने विकास के लिए आदर्श माननेवाले जैन कहलाते हैं। आत्मविकास का मार्ग बतलानेवाला धर्म जैन है।

प्रत्येक आत्मा में ज्ञान है। भले-बुरे की जानकारी सबको होती है। लेकिन भलाई में ही कल्याण है ऐसी दृढ श्रद्धा जब तक नहीं होती और उस पर चलने की वृत्ति या रुचि नहीं होती तब तक वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं कहलाता। सत्य को जानकर, उस पर निष्ठा रखकर तदनुकूल आचरण करना सम्यक् चारित्र्य है। यही भगवान् महावीर ने आत्म-विकास का मार्ग अपने जीवन से दूसरों को सिखाया।

"सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

मोक्ष का मार्ग निष्ठा, ज्ञान और आचरण की एकता में है। अधर्म, पाप या दुःखों से मुक्त होने का यही साधन है।

भले ही पच्चीस सौ वर्षों में बाह्य परिस्थिति में बहुत अन्तर पड़ गया हो लेकिन मूल तत्वों में कोई अन्तर नहीं आया। इसी कारण उनका बताया हुआ मार्ग धर्म कहलाया। जन-कल्याण के तत्वों में अन्तर नहीं पड़ता, इसीलिए वह जीवनधर्म है, वाद नहीं। आज अनेक वाद संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए खड़े हुए हैं। लेकिन वाद में से विवाद आता है और दूसरों पर लादने की उसमें अधिक चिन्ता रहती

है। मैं भले ही उस व्रत का आचरण न करूँ लेकिन दूसरे करें ऐसा उसमें आग्रह होता है। धर्म का आचरण अपने से शुरू होता है। इसमें दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने आपको सुधारने का प्रयत्न ही मुख्यतया रहता है।

धनधान्य के संग्रह में स्वयं सुखी बनने की इच्छा रहती है। अर्थ के द्वारा ही दूसरों की सेवा खरीदी जा सकती है। दास बनाया जा सकता है। शोषण का साधन अर्थ है, इसीलिए उन्होंने अपरिग्रह को धर्म बताकर असमानता दूर करने का प्रयत्न किया। क्योंकि धन से कोई सुखी नहीं बनता। जिनके पास नहीं है वे इसलिए दुःखी हैं कि उनके पास नहीं है और जिनके पास है वे इसलिए घबराते हैं कि उनका धन चला न जाय। सीढ़ी पर चढ़ने के प्रयत्न में खड़ा मनुष्य ऊपर देखकर दुःखी होता है और ऊपरवाला डरता है कि कहीं वह नीचे न गिर जाय। संसार की समस्याएँ धन से सुलझाने की विचारधारा माननेवाले को भले ही यह मार्ग अनोखा दीख पड़े, लेकिन शाश्वत मार्ग यही है। दूसरों की बात क्या, लेकिन खुद जैन कहलानेवाले भगवान् महावीर के अनुयायियों की भी श्रद्धा इस पर नहीं है। उन्होंने व्यापक समाज-धर्म को व्यक्तिगत उत्थान का साधन बनाकर संकुचित बना डाला। विश्वधर्म व्यक्तिगत स्वार्थ का साधन बन गया। भले ही वह स्वार्थ आत्म-कल्याण का रहा हो या परलोक में वैभव-प्राप्ति का।

जैनों ने व्यापक सामाजिक अहिंसा धर्म को इतना संकुचित बना डाला कि दूसरों का उसे समझने में गलती करना स्वाभाविक था। भले ही जैनी जीवों की हिंसा से बचने में दूसरों से आगे बढ़े हुए हों, लेकिन उनके सम्पर्क में आनेवालों के प्रति उनका व्यवहार दूसरों से अधिक अहिंसामय है, ऐसा दीख नहीं पड़ता। अहिंसा की कसौटी सम्पर्क में

आनेवाले मानव-प्राणी हो सकते हैं लेकिन व्यवहार में दूसरों से उनमें विशेषता नहीं पाई जाती। तब लोग कैसे जानें कि महावीर का धर्म कल्याणमय, समाज या जीवनोपयोगी धर्म है? शोषण हिंसा है और उससे बुराई पैदा होती है। जब तक हम शोषण करते रहेंगे, लोग हमें कैसे अहिंसक समझ सकते हैं?

धर्म का परिचय होता है साहित्य से या उसके आचरण करनेवालों से। जैनियों के पास विशाल साहित्य होते हुए भी उन्होंने उसे ऐसा साम्प्रदायिक बना डाला है कि यदि जैनधर्म को कोई जिज्ञासु समझना चाहे तो हम सब जैनी मिलकर कोई एक चीज़ नहीं बता सकते। हमारे आचरण से सम्यक् जैनधर्म का पता नहीं लग सकता।

भगवान् महावीर ने तो मानव-कल्याण के लिए धर्म बताया था। वे केवल जैनियों के नहीं थे इसीलिए उनके जीवन का अध्ययन विशाल दृष्टिकोण से होना आवश्यक है।

भगवान् महावीर ने सामाजिक बुराइयों तथा मनुष्य की वृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। वे मनुष्य की संग्रह वृत्ति और सुखासक्ति से परिचित थे। अहिंसा की साधना बिना अस्तेय और अपरिग्रह के हो ही नहीं सकती। इसीलिए उन्होंने सत्य, अस्तेय अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को अहिंसा के साथ धर्म में जोड़ दिया। लेकिन उनके अनुयायियों ने अपनी सुविधा के लिए इन पंचव्रतों को दो भेदों में विभक्त कर दिया। महाव्रत यानी पूर्णतया पालन साधुओं के लिए और सीमित व्रतों का पालन यानी अणुव्रत श्रावकों यानी गृहस्थों के लिए। गृहस्थों को अपनी शक्ति के अनुसार पालन करने को कहकर इन महान गुणों से सामाजिक जीवन का सम्बन्ध तोड़ दिया गया। यानी ये गुण परलोक के सुखों की प्राप्ति के कारण माने गए। उनका इस लोक से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। यही तो

कारण है कि बड़े बड़े धर्मात्मा लोग भी यह मानने लग गए हैं कि अहिंसा, सत्य आदि गुणों का या धर्म का पालन व्यवहार में संभव नहीं है। वे गुण धार्मिक जीवन में ही पाले जा सकते हैं। यही कारण है कि जैनधर्म के अनुयायियों का जीवन दूसरों से भिन्न नहीं पाया जाता।

इस भेद की योजना में भले ही मानवी दुर्बलता कारण रही हो लेकिन इस मान्यता से जनता और समाज की बड़ी हानि हुई है। हर क्षेत्र में मंगल करनेवाला विशाल धर्म संकुचित बन गया। और अचरज यह कि जीवन के हर क्षेत्र में धर्म और नीति का पालन आवश्यक नहीं माना जाता। वह पारलौकिक या आध्यात्मिक चीज रह गई। दिनभर झूठ, असत्य या पाप का आचरण करने पर भी मनुष्य यदि दो घड़ी पूजा, भक्ति या सामाजिक कार्य कर ले तो उसका पापों से छुटकारा हो जाता है। ऐसी भ्रान्त धारणाओं के कारण मान लिया गया है कि हमें पाप से छूटने का परवाना मिल जाता है। भविष्य में क्या होता होगा यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। लेकिन इतना तो हम देख ही सकते हैं कि ऐसा करनेवाले स्वयं सुखी नहीं होते। वे अपना और समाज का दुःख बढ़ाते हैं, जो भगवान् महावीर के सिद्धांतो के बिलकुल प्रतिकूल है।

मनुष्य जब तक मनुष्य है उसमें कमजोरियां रहेंगी ही। लेकिन जब तक वह अपनी कमजोरियों को कमजोरियां मानता है तब तक उनके दूर होने की संभावना रहती है। लेकिन उन्हें कमजोरियाँ न मानकर दलीलें करने लगता है और समर्थन में धर्मशास्त्रों के प्रमाण देने लगता है तब उसका विकास रुक जाता है।

हमारा भी कुछ ऐसा ही हाल हो गया है। धर्म और अधर्म को अपने विवेक की कसौटी पर न कसकर शास्त्रों में ढूंढने लगे हैं और रूढ़ियों तथा परंपरागत आचार-प्रधान संस्कारों को धर्म मानकर उनसे चिपक जाते हैं। यों भले ही हम उसे धर्म पालन मान भी लें, तो भी

उससे कल्याण तो नहीं होगा। आचार और रूढ़ियों के निर्जीव पालन से क्या लाभ होगा?

विश्व-समस्या सुलझाने की सामर्थ्य रखनेवाला भगवान् महावीर का धर्म अभी तक उनके अनुयायियों की समस्याएं भी नहीं सुलझा पाया। नहीं तो उनमें कदापि आपसी झगड़े नहीं होते।

भगवान् महावीर यह भी जानते थे कि मनुष्य धन या परिग्रह का त्याग कर देने पर भी दूसरों के प्रति आत्मोपम्य वृत्ति साधने में सफल नहीं होता। उसका अहंकार उसके मार्ग में बाधा डालता है। इसलिए अहिंसा की साधना के लिए अपरिग्रह के साथ उन्होंने अनेकान्त भी बताया। यानी मनुष्य किसी भी प्रश्न पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार करे। दूसरे के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयत्न करे। मनुष्य अपूर्ण होने से यह संभव नहीं है कि संपूर्ण सत्य का उसे दर्शन हो जाय; इसलिए वह आग्रही न रहे।

यदि संसार में शान्ति चाहिए तो असमानता मिटानी होगी। शोषण रोकना होगा, संग्रह त्यागना पड़ेगा और दृष्टिकोण विशाल बना रखना होगा। इसके बिना शान्ति संभव नहीं है। जो चाहते हैं कि संसार में शान्ति फैले तो धर्म को मन बहलाव की चर्चा न बनाकर उसे जीवन में उतारना आवश्यक है।

भगवान् महावीर की कोरी "जय" मनाकर या नामस्मरण करके भी हम अपने जीवन को ऊँचा न उठा सकेंगे। क्योंकि उन्होंने बताया है कि सबको अपना मार्ग अपने आप ही तय करना पड़ता है। जैसे दूसरों पर भरोसा करने पर खेती नहीं होती वैसे ही अपना विकास भी खुद प्रयत्नशील बने बिना नहीं हो सकता।

: १ :

महत्ता का स्रोत

रिषभदास रांका

प्रत्येक व्यक्ति ऊँचा उठना चाहता है—महान् होना चाहता है। उसकी हार्दिक महत्त्वाकांक्षा होती है कि उसे सम्मान मिले, उसकी प्रतिष्ठा हो। यह स्वाभाविक ही है। आत्मा को अनन्त शक्तिसंपन्न तथा ऊर्ध्वगामी माना गया है। और यह आत्मा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहती है। आत्मा का स्वभाव है, अनन्त ज्ञान और सुखमय रहना और इसी की प्राप्ति के लिए जगत् का प्राणी प्रयत्नशील रहता है। लेकिन इच्छा और प्रवृत्ति की प्रबलता तथा प्रयत्न की सचेष्टता के बावजूद भी बहुत कम आत्माएँ अपना विकास कर पाती हैं। बहुत कम आदमी महत्ता की चोटी पर पहुँच पाते हैं। हम विचार करें कि ऐसा क्यों होता है?

स्वयं-स्फूर्ति या निजी प्रेरणा से विकास-पथ पर अग्रसर होने वाली आत्मा युगों में एकाध होती है। सर्वसाधारण का जीवन अपने चारों ओर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से आकर्षित और अनुप्राणित होता है। जगत् तो लेन-देन का बाजार है। इसीके सहयोग पर सम्पूर्ण व्यवहार होता है। युग, वातावरण या परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने वाले बहुत कम होते हैं। जो ऐसे हैं वे कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अपनी सार्थकता सिद्ध कर जाते हैं। कालान्तर में यही आत्माएँ तीर्थंकर, तथागत, अवतार अथवा देव कहलाती हैं। जगत् का सामान्य प्राणी इन आत्माओं से ही प्रेरणा लेता है और आगे बढ़ता है। जिसे अपनी उन्नति की चाह नहीं है उसे प्रेरणा लेने की जरूरत नहीं होती, और न ऐसों को प्रेरणा दी

ही जा सकती है। हम मान लेते हैं कि हमें जीवन का सर्वोच्च और शाश्वत आनन्द प्राप्त करना है, क्योंकि हम चाहते हैं कि महत्ता की प्राप्ति इसी प्रकार ही सकती है। लेकिन प्रश्न यह है कि किसे महान् माना जाय जिससे प्रेरणा ली जा सके? क्योंकि यह एक ऐसी दुनिया है जिसमें व्यक्ति का अहं और उसकी माया अपना ऐन्द्रजालिक वैभव लेकर बाजार में खड़ी रहती है। अधिकांशतः होता यह है कि बेचारा उन्नति का इच्छुक भोला प्राणी उसकी चकाचौंध में फंस जाता है। इसलिए अपने मार्ग पर प्रकाश पाने के लिए, सहारा पाने के लिए, शक्ति पाने के लिए किन महान् व्यक्तियों के जीवन से प्रेरणा ली जाय, इसपर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

महापुरुष देश और काल की सीमा से परे होते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में जन-हित और आत्मकल्याण की दृष्टि रहती है। उनकी महत्ता सार्वदेशिक और सार्वकालिक होती है। यों दुष्टता और क्रूरता भी सीमा-पर पहुंच कर बड़ी हो जाती है लेकिन ये व्यक्ति को कलंकित रूप में ही जीवित रख सकती हैं; इसलिए इन्हें क्षुद्रता ही कहा जा सकता है। राम से लोहा लेनेवाला रावण कोई कम महान् नहीं था, उसकी भी स्मृति उतनी ही प्रबल है जितनी राम की। राम को जानने वाला रावण को भूल नहीं सकता। लेकिन, रावण की महत्ता (?) इतनी ही है कि वह अहंता से ऊपर नहीं उठ पाता। अतएव महान् व्यक्ति या महापुरुष हम उसे ही कह सकते हैं जिसकी प्रेरणा निरन्तर नवीन रूप में विकासोन्मुख प्राणी को उत्साहित और आनन्दित करती रहे। महान् वह है जिसका जीवन प्राणि-कल्याण में निरन्तर व्यस्त रहा हो, जिसने स्वयं को भी जागतिक आशा-प्रत्याशाओं से ऊंचा उठा लिया है। वह अपने को जगत् से विलग कर लेता है, लेकिन जनता उसे अपने में समेट लेती है।

लेकिन सामान्य और अल्प शक्तिमान् प्राणी की कुछ सीमाएं होती हैं। अपनी सीमा में ही वह अपने लिए प्रकाश और पथ पा सकता है। क्षेत्रगत और कालगत उसकी दृष्टि सीमित होती है। हम भारतवासियों के लिए इसी देश के महापुरुष का जीवन प्रेरणाप्रद और लाभप्रद हो सकता है। इसका एक कारण यह भी है कि महापुरुष भी अपने क्षेत्र और काल की विशेषताओं से ही अपने लिए साधन जुटाते हैं। अपने पास-पड़ोस के क्षेत्र और परिस्थितियों से जैसा हवा-पानी उन्हें मिलता है, उसीका ग्रहण भावी पीढ़ी कर सकती है।

भारतवर्ष में अनेकों महापुरुष सहस्रों वर्षों में हुए हैं। प्रत्येक के जीवन की भिन्न भिन्न विशेषताएँ हमें देखने को मिल सकती हैं। पौराणिक काल, ऐतिहासिक काल और वर्तमान काल में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों का सांगोपांग अध्ययन कर जो अनुभव हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं वे आज भी प्रेरणादायी हो सकते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात है कि हमारे पूर्वजों ने उनके जीवन को अनुकरण के स्थान पर केवल पूजा के योग्य बना दिया है। ज्ञात नहीं, किस भक्त के हृदय में यह विचार सर्व प्रथम उद्भूत हुआ कि महापुरुष के जीवन को मानवता से ऊंचा उठा कर अतिमानवता या अतिशयों की रंगीनियों से अलंकृत कर दिया जाय। भले ही उन भक्तों की दृष्टि यह रही हो कि इससे उनकी महत्ता और भी वृद्धिंगत हो सकेगी, लेकिन जहाँ यह चित्र भक्तों को आकर्षित कर सकता है, वहाँ उस से उन्नति के पथिक को मार्ग नहीं मिल सकता। हमने अपने जन-नेताओं को इतना ऊंचा बिठा दिया कि वहाँ तक हमारी पहुँच ही नहीं हो सकती। चमत्कारों और अतिशयों की बहुलता में हमारे मार्ग में इतना अधिक प्रकाश फैल गया है कि देखना भी कठिन हो गया। वास्तविकता यानी जन-हृदय से वे दूर पड़ गए। राम

और कृष्ण हमारे देश के बहुत बड़े जन-सेवक थे। लेकिन वे इतने अलौकिक बना दिए गए कि बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों को इस दृष्टि का विरोध करना पड़ा। उन्होंने कहा था कि मानवता की स्वाभाविक सीमा से परे कोई भी महापुरुष नहीं होता। लेकिन यह भी कम अचरज की बात नहीं है कि बुद्ध और महावीर पर इस अलौकिकता का आवरण कुछ गहरा ही डाला गया है। महात्मा गांधी इस युग के महापुरुष थे। लेकिन विद्वान् की यह शंका, दो-एक शताब्दियों में मूर्तिमती हुए बिना नहीं रहेगी कि लोग शायद् ही सोचेंगे कि ऐसा पुरुष दो हाथ-पैर वाला होकर जमीन पर चल-फिर भी सकता है। मतलब, गांधीजी को भी अलौकिकता के आवरण में कैद कर दिया जायगा।

कहाँ तो ऐसे महापुरुष हमें सन्मार्ग पर चलाने आते हैं, हमें अपनी भूल सुझाते हैं और जीवन-निर्माण की अर्थात् आत्म-शक्ति को प्रकट करते हैं; और कहां उनके भक्त हैं जो उनमें लोकोत्तरता स्थापित कर अस्वाभाविक रूप में ईश्वरत्व की कल्पना कर लेते हैं। इन्हें भगवान् कह कर हम याचक बन जाते हैं। अपनी लौकिक सिद्धियों के लिए उनसे याचना करते हैं, उनकी मनौतियां मानते हैं। सचमुच यह उन जैसे महापुरुषों का अवर्णवाद है, उनका यह अपमान है। हमारी समझ और संस्कारों की यह भूल है। वे तो अपना कल्याण कर चले गए और रास्ता बना गए। अपने सिद्धान्त के वे स्वयं उदाहरण बने थे। अब उनसे मांगना तो परावलम्बन है, पाप है। इसे कोई भक्ति भले ही कहे, यह है वास्तव में स्वार्थ। भला विचार करने की बात है कि जिन महापुरुषों का हृदय प्राणी-मात्र के प्रति दया, समता और प्रमुदता से भरा था, उनसे हम याचना करते हैं कि यदि हमारे शत्रु का नाश हो जायगा तो इतना रुपया, मिठाई आपके चरणों पर भेंट चढ़ाई जायगी। अगर यह भक्ति है तो इसे एक क्षण-मात्र में जल-भुन कर खाक हो जाना चाहिए।

इसलिए अपने महापुरुषों के जीवन पर आवेष्टित चमत्कारपूर्ण जाल को दूर कर उनके कर्ममय जीवन को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारी श्रद्धा उनके चमत्कारों पर नहीं, उनके जीवनव्यापी कार्यों पर होनी चाहिए, और केवल श्रद्धा ही नहीं, उन कार्यों के भीतर उनकी जो-जो भावनाएँ रही हों, उनमें अपने को समरस करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। वनशोभा से परिपूर्ण चित्र के आगे मनौतियाँ मनाने या उसका अवलोकन करने मात्र से जिस प्रकार पर्यटन का लाभ और फलों का आस्वाद नहीं मिल सकता, उसी प्रकार स्वयं के जीवन को कर्म-मय बनाए बिना भगवान की मनौतियों के लिए रिश्वत में अटूट धन चढ़ाने पर भी कोई लाभ नहीं हो सकता। जो ऐसा करते हैं वे बड़ी भूल में हैं या फिर निपट आलसी और स्वार्थी हैं।

भगवान महावीर और बुद्ध दोनों राजपुत्र थे। उन्हें समस्त प्रकार का सांसारिक सुख और उसके साधन समुपलब्ध थे। लेकिन उन्हें इससे सन्तोष नहीं हुआ। गृहत्याग करके उन्होंने दुखों से मुक्त होने का मार्ग ढूंढ़ा। वर्षों की कठोर साधना के उपरान्त उन्हें चिरन्तन सुख का मार्ग मिला। जबतक वे सुख के मार्ग को खोज नहीं पाए, बिलकुल मौन रहे और जो भी संकट आए उन्हें समता और धीरता से सहा। लेकिन उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ कि वे अपने कल्याण का मार्ग पा गए। उनका हृदय तो जन-जन के दुखों से करुण था। यही उन की विशेषता थी। राम के जीवन को शुद्ध आंखों से पढ़ने पर प्रतीत होता है कि गरीब और दुखी जनता को अपने समान बनाने और उन्हें अपनाने में उन्होंने जो कुछ किया वही उनकी महत्ता थी। कृष्ण ने अपने जीवन से कर्मयोग का पाठ सिखाया। तुच्छ से तुच्छ और महान से महान कार्यों के लिए कृष्ण तैयार रहते थे। लेकिन कर्म में अनासक्ति कृष्ण की विशेषता

थी। इस तरह यदि महापुरुषों के जीवन से शिक्षा ली जाय तो उनकी पूजा सार्थक हो सकती है।

अपने आपको लोक-नेता और लोक-सेवक बता कर महत्ता की कोटि में अपने को खड़ा करने का प्रयत्न करने वालों से इतिहास भरा पड़ा है। लेकिन यथार्थ में महान वे ही होते हैं जो दुखी जनता को सुख का सच्चा रास्ता बताते हैं। महापुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे जनता को उसकी ही वस्तु बतला देते हैं, जिसे वह भूली होती है। वे सच्चे लोक-शिक्षक होते हैं। जनता के दुख-दर्द को समझने के लिए दूर-दूर तक भ्रमण करते हैं, कष्ट सहन करते हैं, जनता से संपर्क स्थापित करते हैं, और इस तरह जब वे वास्तविक स्थिति समझ लेते हैं, तब उपदेश करते हैं। उनकी शिक्षा इतनी सरल और सहज होती है कि श्रोता अपनी ही परिस्थिति और वातावरण में से अपनी उन्नति के साधन सुगमता से जुटा सकता है। भ० महावीर की वाणी पशु तक समझ लेते थे, इसका अर्थ यही तो है कि पशु-पक्षी तक से उन्हें प्यार था। वे उन्हें इस तरह पुकारते और प्यार करते थे कि पशु-पक्षी उन्हें अपना हितैषी समझने लगते। तत्कालीन यज्ञ-यागादि की भीषणता का वातावरण इस वात्सल्य की कल्पना दे सकता है।

इस युग के महापुरुष बापू को ही लें। उन्होंने जो कुछ किया वह आत्मकल्याण के लिए ही किया था। लेकिन वह जो कुछ करते वह जनता को ऐसा लगता था मानों उसका स्वयं का वह कार्य हो। जनता की आकांक्षा को समझ कर बापू राजनीति में कूद पड़े। अनेक संकट सहे। जिनके वैयक्तिक स्वार्थों पर कुठाराघात होता था, वे उनका विरोध भी करते रहे। यही हाल महावीर और बुद्ध का भी था। लेकिन विशाल जन-हृदय का प्रतिनिधि होता है महापुरुष। वह ऐसे संकटों को खुशी से सहता है। क्योंकि वह जानता है कि स्वार्थों का विरोध स्थायी और सफल

नहीं होता। जन-हितैषी को जनता अपने आप अपना लेती है। इसी कारण हम बुद्ध और महावीर को नहीं भूल सके और बापू को भी करोड़ों जनों का सहयोग मिला, जनता उनकी अनुयायिनी बनकर रही।

इसलिए जिन्हें महान बनना हो, लोक-नायक बनना हो, उन्हें आत्मकल्याण का प्रयत्न निःस्पृह बन कर करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे जनता की सुप्त-शक्ति को इस प्रकार जागरित करें कि उसे ज्ञात भी न होने पाए कि उपदेष्टा की कोई अपेक्षा इसमें काम कर रही है। इसके लिए लोकमानस के गहरे अध्ययन और साधना की आवश्यकता है। आने वाले संकटों में परम धीर बन कर और मिलने वाले सुखों में नितांत निःस्पृह रह कर जो जनसेवा करेगा, लोक नायक का या महत्ता का गौरव उसे ही मिलेगा। यही एक ऐसा स्रोत है जो हमें महत्ता तक पहुँचा सकता है।

: १० :

जैन-धर्म में उदारता

जमनालाल जैन

'उदारता' कोई बना बनाया 'तत्त्व' या 'सिद्धान्त' नहीं कि उसकी परिभाषा दी जा सके। यह तो एक वृत्ति है जो मन और आत्मा से सम्बन्ध रखती है। किसी एक दृष्टिकोण या प्रवृत्ति से उदारता की सही पहचान होना सम्भव नहीं है। इसे समझने के लिए हमें अनेकान्त-प्रणाली का आश्रय लेना होगा।

'अनेकांत' यानी सोचने के अनेक दृष्टि-कोण और किसी के भी प्रति आग्रह-विहीन भावना। एक ही वस्तु या विषय में एक साथ अनेक गुण होते हैं, परंतु प्रत्येक आदमी अपनी आवश्यकता और उपयोगिता की दृष्टि से किसी एक गुण को अपने प्रयोग अथवा प्रतिपादन का विषय बनाता है। दूसरे का दृष्टि-कोण स्थिति और परिस्थिति की भिन्नता के कारण विपरीत भी हो सकता है। यदि एक दूसरे के उद्देश्य और अर्थ को समझ लिया जाय तो पारस्परिक आग्रह समाप्त होकर समन्वय की भावना को बल और प्रेरणा मिल सकती है। अनेकांत यही सिखाता है। संक्षेप में अनेकांत की व्यावहारिक देन यही है कि 'ही' के आग्रह को छोड़कर 'भी' की समन्वय-भूमिका पर आवें। इससे झगड़े शांत हो सकते हैं। एक रोगी के लिए गुणकारक होनेवाला जहर दूसरे के लिए संहारक भी हो सकता है; लेकिन ऐसे दोनों व्यक्ति यदि अपने अपने आग्रह पर अड़े रहें और कहें कि गुणकारक 'ही' है और संहारक 'ही' है तो सिवा झगड़े और अव्यवस्था के परिणाम कुछ नहीं निकलेगा।

यही बात उदारता के बारे में कही जा सकती है। किसी आदमी का कोई कार्य एक को उदारता-पूर्ण दिखाई देता है और दूसरे को कृपणता-पूर्ण। इस तरह प्रवृत्ति की बाहरी बातों से ही उदारता-कृपणता का अंदाज नहीं लगाया जा सकता। यह निष्कर्ष की कसौटी नहीं हो सकती।

यहाँ एक कहानी याद आ रही है। किसी नगर में एक धनवान सज्जन रहते थे। कृपणता में वे 'मक्खीचूस' के समान प्रसिद्ध थे। उनके पुत्र का विवाह हुआ और नई बहू घर में आई। एक दिन बहू के हाथ से काँच की कोई चीज फर्श पर गिरने से फूट गई। इससे सेठ साहब को इतना रंज और क्षोभ हुआ कि वे उस दिन शांति से भोजन भी न कर सके। बहू को यह सब देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वैसी अनेक चीजें घर में रखी हैं और उसका कोई मूल्य भी न था, फिर भी उस छोटी-सी वस्तु के लिए इतने दिलगीर बन जाना सचमुच उनके मन की संकीर्णता को सूचित करता है।

संयोग की बात कि उनका कोई नौकर एक बार बीमार पड़ गया। तबियत दिन-पर-दिन खराब होने लगी। सेठ साहब चिंतित हो उठे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल जिधर घूमने को जाया करते, उसी ओर उसका मकान पड़ता था। एक दिन वे उसके यहाँ पहुँचे। देखकर बहुत अचरज हुआ कि इस कड़ाके की ठंड में बेचारे के पास ओढ़ने को पर्याप्त वस्त्र तक नहीं है। उन्होंने तत्काल अपनी कीमती शाल उसे सौंप दी। घर आकर उन्होंने उसके इलाज के लिए भी आवश्यक प्रबंध कर दिया। बाद में जब वह उनकी शाल वापस करने लगा, तब सेठ ने कहा : "नहीं, इसका मैं क्या करूँगा। यह शाल तो मैंने उसी दिन तुम्हें दे दी थी। यह अब तुम्हारी ही है।"

बहू की धारणा को एक धक्का लगा। सेठ ने उससे कहा : "बेटी, बुराई और व्यर्थता की स्वीकृति का नाम उदारता नहीं है। असली उदारता तो सार्थकता और उपयोगिता में है। संचय और त्याग में विवेक होना चाहिए।"

यह कथा सोचने-समझने की व्यावहारिकता पर अच्छा प्रकाश डालती है। दोनों दृष्टिकोण असत्य नहीं हैं, परंतु सर्वांग सत्य भी नहीं हैं। सर्वांग या पूर्ण सत्य का प्रयोग कोई भी नहीं कर पाता। इसलिए प्रयत्न यही होना चाहिए कि हर एक विषय पर अनेकांत-दृष्टि से विचार किया जाय। एकांत दृष्टि में आग्रह होता है और आग्रहवाला सत्य समन्वय की कोटि में न आने से वस्तुतः असत्य ही होता है।

केवल व्यवहार ही नहीं, विचार के क्षेत्र में भी अनेक विषयों पर यह अनेकांत-दृष्टि सब को समझने तथा समझाने में मार्ग-दर्शन कर सकती है।

लगभग अठारह-सौ वर्ष पूर्व आचार्य समंतभद्र ने कहा है कि जो संसार के दुखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धरता है, वह धर्म है। लेकिन आज हमारे धार्मिक जीवन में काफी संकीर्णता और कट्टरता आ गई है। अपने-अपने धार्मिक वादों और आग्रहों को महत्त्व प्राप्त हो जाने से हमारे धार्मिक संस्कार अत्यन्त अनुदार बन गए हैं। इसका परिणाम समय-समय पर देश के लिए बहुत अनिष्ट हुआ है। कल्याण का धर्म कट्टरता के कारागृह में बंदी होकर अकल्याण-मय बन गया है।

पच्चीस सौ वर्ष पहले राष्ट्र की धार्मिकता ऐसी ही अकल्याणमय हो रही थी। ऐसे ही वातावरण में भगवान् महावीर स्वामी ने आत्म-साधना द्वारा 'आचार में अहिंसा और विचारों में अनेकान्त' के सूत्र का प्रकाश जनता के हृदय में फैलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने देख लिया था कि स्वार्थी और अधिकार-लोलुप व्यक्ति अपने बड़प्पन को अक्षुण्ण

बनाए रखने के लिए ही संकीर्णता को बढ़ाते हैं। समाज और जीवन में इसी संकीर्णता से विषमताएँ और संघर्ष बढ़ते हैं। और, यह सब धर्म के नाम पर होता है। उनके हृदय में यह सब विचार तूफान मचाने लगे और वे घर से बाहर होकर सच्चे धर्म को पुनः जागरित करने के लिए प्रयत्नशील हो गए।

वर्ण-भेद की दीवारों को तोड़ते हुए उन्होंने कहा कि जन्म से वर्ण को मानना संकीर्णता है, क्योंकि इस से मनुष्य मात्र के प्रति समत्व की भावना जागरित नहीं होती और बड़प्पन प्रदर्शन इतना उग्र हो जाता है कि मनुष्य अहंकारी, प्रमादी तथा शोषक बन जाता है। वर्ण बुरी चीज़ नहीं है, परंतु इसे कार्मिक प्रधानता मिलनी चाहिए। आदमी का कर्म या विचार अथवा योग्यता ही उसके वर्ण को प्रकट करे। इससे आदमी अपने कर्त्तव्य के उच्चत्व या विकास की तरफ सदा जागरूक रहेगा। महावीर स्वामी क्षत्रिय थे, परंतु उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति ब्राह्मण ही बने, जब कि अनेक मुनि और श्रावक उनके अनुयायी वर्षों से उनके संघ में रहते आए थे। इन्द्रभूति तो पहले उनके भक्त भी नहीं थे, बल्कि कट्टर विरोधी विचार-धारा के विद्वान् थे। यह घटना हमें बताती है कि उन के आगे गुणों का ही मूल्य था। उन्होंने वर्ण-भेद को अनावश्यक नहीं बताया, परंतु यह भी कहा कि वर्णत्व पैतृक अधिकार नहीं है। अपने अपने कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति वर्ण को प्राप्त हो सकता है। जो चाण्डाल शिक्षा-दीक्षा से सुसंस्कारी और संयमी होकर देवों द्वारा पूज्य हो सकता है वह ब्राह्मण है, और एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी नीच-शूद्र है जो चारित्र से गिरकर पतित जीवन बिताता है। वर्ण ही क्यों, स्वयं महावीर स्वामीने तो यहां तक कहा कि विवेकहीन होने पर मनुष्य को पशु के समान ही मानना चाहिए। उन्होंने कार्यों में ऊंच-नीच के भेद-भाव को कोई महत्त्व नहीं दिया; यही कहा कि उन में पवित्रता और

अपवित्रता कितनी है, यही मुख्य है। इसीसे मनुष्य की पहचान होती है।

उदारता में पराधीनता और संकीर्णता को स्थान नहीं हो सकता। उन्होंने स्वयं की साधना से बताया कि मनुष्य की उन्नति स्वयं उसके हाथ में है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परमात्म-स्वरूप है, आनन्दमय है। पुरुषार्थ की जरूरत है। पुरुषार्थ करो, उसका फल अवश्य मिलेगा। इसमें सिद्धि अपने आप मिल जानेवाली है। इस तरह उन्होंने परमात्मा विषयक पराधीन भावना को भी दूर करके उदार मनोवृत्ति का प्रशस्त मार्ग खोल दिया।

जिस अनेकांत-दृष्टि का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह दूसरों के विचारों को उदारता से देखने के लिए मार्ग-दर्शन करती है। भारत वर्ष के प्रायः सभी धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय परस्पर एक दूसरे से हमेशा 'रुष्ट' ही रहे हैं, उनका समन्वय नहीं हो पाया। परंतु महावीर-स्वामीने अनेकांत-दृष्टि से सब को समन्वय के सूत्र में गुंफित करने का प्रयत्न किया। विविध दृष्टिकोणों का समन्वय पूर्ण सत्य को प्रस्तुत कर देता है। इस अनेकांत दृष्टिकोण को न समझने के कारण ही पारस्परिक झगड़े बढ़ते और उग्र होते जा रहे हैं।

सच कहा जाय तो जैन धर्म का उदय ही विषमताओं को नष्ट करने के लिए हुआ था। इसीलिए वह लोक-धर्म रहा। लोक-धर्म की यह विशेषता होती है कि वह भाषा, प्रान्त, वर्ण, जाति आदि की सीमाओं से मुक्त होता है और किसी के प्रति आग्रह नहीं रखता।

जैनाचार्यों ने भाषा के विषय में भी उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है। दूसरों की तरह उनका कभी भी आग्रह नहीं रहा कि अमुक भाषा में ही धर्मोपदेश दिया जा सकता है और अमुक 'वर्ण' या 'वर्ग' ही

उसका मनन-अध्ययन करने का अधिकारी है। प्राकृत और अपभ्रंश जैसी असाहित्यिक भाषाओं को अपनाकर उन्हें समृद्ध तथा गौरव-शालिनी बनाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही दिया जा सकता है। इतना ही नहीं, आज की प्रान्तीय भाषाएँ भी इन्हीं की उपज हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी का सीधा सम्बन्ध इन्हीं भाषाओं से है।

अहिंसात्मक आचरण और अनेकान्तात्मक विचार का प्रसार ही जैनधर्म के मूल में रहा है। जैन आचार्यों को धर्म का आग्रह और नाम का मोह कैसे रह सकता था! किसी भी धर्म का उपासक रहकर मनुष्य, आत्मकल्याण करते हुए मुक्ति तक पहुँच सकता है। जैनधर्म जिस कार्य के लिए प्रकाश में आया, उसके पूरा और सफल होने पर उसके विचार प्रत्येक के आचरण में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होंगे। तब भले ही उसका अस्तित्व रहे या न रहे। अस्तित्व बड़ी चीज़ नहीं है। विचार और आचार का ही महत्त्व है। यह यदि हुआ या जैनी कर सके तो जैन तत्त्वों की यह सबसे बड़ी विजय होगी। सब के लिए, सब में अपने अस्तित्व को समर्पित कर देने में ही उसकी सार्थकता और सफलता है।

लेकिन कुछ लोग प्रश्न उठाते हैं कि जैन धर्म जब इतना उदार और समष्टि-हित का समर्थक है, तब उसके अनुयायी या उपासकों की संख्या इतनी कम क्यों है?

प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म निवृत्तिपूरक अर्थात् आत्मकल्याण का धर्म रहा है। निवृत्ति या आत्मकल्याण के लिए शरीर और शरीर सम्बन्धों के प्रति अनुराग या ममता को स्थान नहीं दिया जा सकता। एक संसारी जीव के लिए शरीर और परिवार तथा वाह्याकर्षण के साधनों के प्रति निर्मम होना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए, ऐसा लगता है कि जैनधर्म में 'आचरण की उदारता' को स्थान नहीं दिया गया। आचरण

की उदारता यानी शिथिलाचार। जैनधर्म के आचरण विषयक जो व्रत-विधान-नियम हैं, उन्हें कठोर रखने का कारण यही प्रतीत होता है कि निवृत्ति में या त्याग में शिथिलता न आने पाए। आत्मकल्याण सहज तो नहीं है। जितना कठिन मोह का त्याग है, उतना ही कठिन आत्म-कल्याण भी। शिथिलाचार जितना बढ़ता है समाज और राष्ट्र में उतनी ही विषमता बढ़ती है। इसे तो जैनाचार्यों की वैचारिक उदारता ही समझना चाहिए कि उन्हें संख्या-वृद्धि का मोह नहीं रहा। इसमें उनकी राष्ट्र और विश्व-कल्याण की भावना ही रही।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी महत्त्व-पूर्ण है। शिथिल आचार को अस्वीकार करके भी व्यक्ति की चरित्रहीनता को उन्होंने करुणा की दृष्टि से देखा है। जैनाचार्यों ने कहा कि चारित्र-मोह की प्रबलता से सम्भव है कि मनुष्य चारित्र्य से च्युत हो जाय या उसका विधिवत् पालन न कर सके, परन्तु उसे उपदेश और प्रायश्चित्त द्वारा मार्ग में पुनः स्थित किया जा सकता है या ऐसी प्रेरणा की जा सकती है। फिर भी चारित्र की कठोरता में कोई कमी नहीं की गई। उसका समाजगत महत्त्व ज्यों का त्यों रहा। हां, व्यक्ति की कमियों को करुणादृष्टि से देखा।

चारित्रिक पतन सबका समान नहीं होता। उसके उद्धार या निवारण का प्रकार भी सबके लिए एक-सा नहीं होता। जैन पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ पढ़ने को मिलती हैं जिन में चरित्र-हीन या हीन-चरित्रों को पुनः साधना के पथ पर अग्रसर होते चित्रित किया गया है। वैयक्तिक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सामाजिक जीवन का मुख्य सूत्र है **'परस्परोपग्रहोजीवानाम्'**। अर्थात् हमारा सामाजिक जीवन पारस्परिक उपकार पर निर्भर रहता है। लेकिन इस सिद्धान्त की व्यावहारिक सार्थकता प्रत्येक प्राणी के चारों तरफ

फैले वातावरण, स्थिति, शक्ति समय आदि की अपेक्षा रखती है। इसलिए सामाजिक जीवन का मार्ग निर्धारण करते हुए जैनधर्म ने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर कार्य करना चाहिए। पैर उतने ही लम्बे फैलाने चाहिए जितनी लम्बी चादर हो।

किन्हीं विशेष कारणों से जो रीतियाँ एक बार हमारे सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो जाती हैं, वे सदैव वैसी ही बनी रहें, यह आग्रह व्यर्थ है। इसीलिए तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की बात कही गई है। शीत-काल में उपयोगी पड़नेवाला ऊनी कोट ग्रीष्मकाल में तो लाभ नहीं दे सकता। गृहस्थधर्म और उसके भीतर समाहित समाज धर्म का निरूपण करते हुए जैनाचार्यों ने सम्यक्त्व के आठ अंगो का वर्णन किया है। पहले चार अंग व्यक्तिगत महत्त्व रखते हैं और दूसरे चार सामाजिक महत्त्व। यहाँ तक कि दूसरे चार अंगों के पालन के लिए पहले चार अंग सहायक होते हैं। इन अंगों की विशेषताएँ आचार्य समन्तभद्र ने अपने रत्नकरंड श्रावकाचार (गृहस्थ-धर्म-शास्त्र) में अच्छी तरह बतलाई हैं। यहाँ सामा-जिक चार अंगों के विषय में प्रसंगवशात् कुछ कह देना उचित प्रतीत होता है।

पहला अंग है **उपगूहन**। इसका मतलब यह है कि किसी की बुराई को प्रकट नहीं करना चाहिए। प्रायः बुराइयाँ प्रकट करने या उनके द्वारा व्यक्ति को चिढ़ाने से वे दबती तो नहीं, बल्कि बढ़ती हैं और आग्रह बढ़ता है। इस अंग में पतन के प्रति कारुण्य भावना को महत्त्व दिया गया है। अनुरोध और प्रेम से बुराई दूर की जा सकती है। आज्ञा, अनिवार्यता, बहिष्कार और कुढ़न से प्रतिक्रिया बढ़ती है, अहंकार फुफकारने लगता है।

दूसरा अंग है **स्थितिकरण**। किसी को धर्म या ध्येय से च्युत होते देखकर विविध उपायों द्वारा सम्यक मार्ग में स्थित करना, इस अंग की

विशेषता है। गिरते को गिराना या गिरे को देखकर हँसना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं है। इस समय विविध समाजों में जाति-बहिष्कृत या धर्म-वंचित करने की जो प्रथा दिखाई देती है उससे तो प्रतीत होता है कि इसे उपयोगी समझनेवालों ने स्थितिकरण अंग के महत्त्व को समझा ही नहीं है या समझने में भूल की है। या संस्कारों तथा रूढ़ियों के थपेड़े खा खा कर हृदय चिकना घड़ा बन गया है जिसपर कोई भी विचार अपनी चिरन्तन तो क्या क्षणिक छाप भी स्थिर नहीं कर सकता।

तीसरा अंग है **प्रभावना**। अच्छा कार्य करनेवाले का उत्साह बढ़ाने के लिए उसकी प्रशंसा करने और आदर देने का नाम प्रभावना है। ऐसा करने से दूसरों को भी वैसे ही कार्य करने की प्रेरणा मिलती है और समाज का गौरव बढ़ता है। इसमें एक मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि कार्यकर्त्ता अपने को समाज में सबके साथ समझता है और एकाकीपन अनुभव नहीं करता। समंतभद्र स्वामीने तो कहा है कि 'जैसे भी होवे' प्रभावना का प्रयत्न करना चाहिए।

चौथा अंग है **वात्सल्य**। मनुष्य मात्र के प्रति गो-वत्स सम प्रेम करना चाहिए। एक-दूसरे के सुख-दुख में सहयोग देने से आत्मीयता बढ़ती है। किसी-किसी मनुष्य में हम एक प्रकार की कमजोरी देखते हैं यानी वह परिस्थितियों के चक्कर में आकर अपने को सबसे अलग यानी निरीह अनुभव करने लगता है। ऐसे आदमी के प्रति सद्भावना पूर्ण व्यवहार करने से उसमें हीनता की दृष्टि पैदा नहीं हो पाती। इस अंग के मूल में संगठन, सौजन्य, सद्भावना के बीज हैं।

उदारता के नाम पर आज यशोकामना, नाम-वरी की लालसा बढ़ रही है, उसकी भयानकता से हमें बचना चाहिए। यह धोखा है, वंचना है। स्वार्थ और संकीर्णता का त्याग करने से ही उदारता की वृत्ति जागरित और विकसित होती है।

भिखारी की नींव पर ही दाता का प्रासाद निर्मित होता है। आवश्यकता की भूमि में ही उदारता के बीज फलते-फूलते और विशाल रूप धारण करते हैं। बिना भिखारी के दाता का और बिना आवश्यकता के उदारता का कोई मूल्य नहीं, महत्त्व नहीं।

उदार-चरित्र महापुरुषों के परिवार में सम्पूर्ण वसुधा का प्राणी-समूह एकीभूत हो रहता है।

दुर्भाग्य से आज हमारे यहाँ न सच्चे भिखारी हैं न सच्चे दाता। इस तरह सचाई के अभाव में शृंखला बीच में ढीली-ढीली हो गई है, जिसे हर कोई लांघता है, ठुकराता है। वह निर्बल, निस्तेज हो गई है। जिस दिन उसमें तेजस्विता और कठोरता आयगी, वह तनेगी, उसी दिन सम्भवतः सचाई के साथ भिक्षा और उदारता के दर्शन होंगे।

इसे कोई धार्मिक उदारता कहे या सामाजिक। मतलब सब का यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने आपमें इतना सुलझा, स्पष्ट और सच हो कि अहं को पैदा होने और पलने का अवसर ही प्राप्त न हो सके। चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, अहं आखिर वह विष है जो उदारता की वृत्ति को उगने—विकसित होने—नहीं देता। हमारी उदारता सब के हित में ही सार्थक हो सकती है। उसे चाहे जिस परम्परा या धर्म के नाम से पुकारा जाय।

: ११ :

संस्कृति और विकृति

श्री जैनेन्द्रकुमार

संस्कृति का शब्द बहुत तरफ से उठाया जा रहा है। कुछ लोग उसकी बात मन से भी कहते होंगे; पर अधिक, जान पड़ता है, मुँह से कहते हैं। मुँह से कहने का मतलब यह नहीं कि किसी तरह का मायाचार करते हैं। मतलब यही कि गहरे में वे मानते हैं कि संस्कृति बाद की बात है, पहली नहीं है; उपर की चीज है, मूल की नहीं है। यह बहुत-कुछ अतिरिक्त वस्तु है, जैसे मूलधन का ब्याज। इसलिए जरूरत की नहीं, जितनी शोभा की वस्तु है। विलास को बुरे अर्थ में न लें, तो वह विलास अधिक है, आवश्यकता कम।

इस मन्तव्य के लोग अधिकांश मानव-जाति के जिम्मेदार शासक और व्यवस्थापक वर्ग के हैं। उनपर दायित्व का बोझ है और वे प्रत्यक्ष कर्त्तव्य से हटकर परोक्ष कल्पना में भटक नहीं सकते हैं। वे प्रकट देखते हैं कि पहली आवश्यकता रहने-खाने-पहनने की है। उसके बाद आवश्यकता अच्छे खाने, अच्छे रहने और अच्छा पहनने की है। बात सिर्फ रहने से आगे बढ़कर बढ़िया रहने की हो जाती है, तभी वह संस्कृति कहलाती है। इस लिए संस्कृति का मान है: 'जीवन-स्तर'। एक सौ रुपया मासिक खर्च में रहता है, दूसरे को पाँच सौ लगते हैं, तीसरे को हजार अपर्याप्त होते हैं। तो इन तीनों में संस्कारिता की क्रमशः उत्तरोत्तर तरतमता देखी जा सकती है। इस तरह संस्कृति के प्रश्न का निदान है: चढ़ा-बढ़ा उत्पादन और बढ़ा-चढ़ा उपार्जन। अधिक सुविधा, अर्थात् अधिक सभ्यता।

ये दायित्वशील जन, जो सुविधा में रहते इससे सुविधा उपजाने में भी रहते हैं, मानते हैं कि समस्या का रूप सांस्कृतिक से पहले भौतिक है। लोगों को आवश्यक पदार्थ चाहिएँ, इसलिए उसका पर्याप्त उत्पादन और समीचीन वितरण चाहिए। उसके लिए फिर उचित व्यवस्था और पक्का तन्त्र चाहिए। इस सबके लिए यत्न, अर्थात् संघर्ष करना होता है। जीविका सहज नहीं है, प्रकृति के और परिस्थिति के साथ वह एक युद्ध है। जीविका के लिए जूझना पड़ता है। इसलिए प्रश्न मूलतः आर्थिक है, यानी जीवन-मान आर्थिक हैं और मनुष्य आर्थिक प्राणी है।

ये लोग संस्कृति के निस्संशय संरक्षक, समर्थक और अभिमानी हैं। जानते हैं कि आर्थिक रचना में से ही संस्कृति का उद्गम हो सकता है, इसलिए बात चाहे संस्कृति की करें, काम अर्थ का करते हैं। मेरा मानना है कि वे भूलते हैं। समस्या रहने-खाने-पहनने की नहीं है, इन्सान के लिए वह इन्सान होने की है। जानवर रहता और खाता है। जंगली भी कुछ-न-कुछ पहनता है। जो वस्त्र नहीं जानते, उन्हें प्रकृति छाल-खाल-बाल पहनाती है। रहना-खाना हमारे होने की शर्त है। समस्या वह न थी, न होनी चाहिए। असल में समस्या का वह रूप फर्जी है, बनावटी है। सिर्फ होने में ही गर्भित है कि रहने को रहा जाता है और खाने को खाया जाता है। समस्या का आरम्भ होता है हमारे इन्सान होने से और हमारे उत्तरोत्तर सही और सच्चे इन्सान बनने की ओर उस समस्या को उठते जाना है।

भूख का समाधान है खा लेना। भूख लगी, शेर निकला, शिकार मारा और खाकर आराम से सो गया। भूख आदमी की समस्या नहीं हो सकती, क्योंकि भूख का सीधा सम्बन्ध खाने से है। वह सम्बन्ध मनुष्य के लिए उतना सीधा नहीं रह जाता, इसमें कारण उसकी मनुष्यता ही है। बीच में से मनुष्यता को हटाकर समस्या की एकदम समाप्ति हम पा

जाते हैं। पर वैसा नहीं हो सकता। इन्सान चाहकर भी इन्सानियत खो नहीं सकता। इसलिए प्रश्न भूख नहीं; इन्सानियत है।

जो मूल प्रश्न को शरीर की सीधी आवश्यकता की भाषा में देखते हैं, वे प्रश्न को किसी तरह भी सुलझा नहीं सकते। कारण, वे उल्टे चलते हैं। जिसने अपनी मनुष्यता के ऊपर भूख को रख लिया, उसने अपनी भूख को तो मिटाया; किन्तु अपनी अनिवार्य इन्सानी हैसियत के लिए उसने बड़ी आफत मोल ले ली। चोरी, ठगी, डकैती, धोखा-देही करके भूख को सीधा मेटा जा सकता है, लेकिन समस्या उससे मिटती नहीं और बनती है।

यह मत कि आदमी पहले शरीर है, झूठ है। अब तक कोई आदमी मैंने नहीं देखा, जो शरीर पर समाप्त हो। जघन्य से जघन्य अपराधी भावना से मुक्त नहीं होता। भावना, यानी मनकी भूख। तन की भूख तो भी घास से आदमी शान्त कर लेगा, लेकिन मन से अपमान उससे नहीं सहा जायगा। कहाँ ऐसे उदाहरण नहीं हैं, जहाँ खुशी से लोगों ने भूख सही है, अपमान नहीं सहे हैं। भूख यह गहरी है, यह असली है। और समस्या यहाँ है।

इन्सान को शरीर की भाषा पर उतार कर उसकी समस्याओं का निपटारा टटोलना बेकार है। इन्सान को न समझने से ऐसी कोशिश का आरम्भ होता है। सहानुभूति का उसमें अभाव होता है। इससे जितनी ही यह चेष्टा वैज्ञानिक होती है, उतनी ही व्यर्थ होती है।

आशय कि मैं उनसे सहमत नहीं हो पाता हूँ, जो संस्कृति को दूर की, ऊपर की, कोई भव्य वस्तु मानकर सन्तोष मानते हैं और बुनियाद में ही उसे नहीं लेना चाहते।

संस्कृति जो नींव नहीं है, सिर्फ शिखर है, एक आडम्बर है। राजनीति जो संस्कृति को साध्य के रूप में आगे रखकर साधन के रूप में साथ नहीं रखती है, भ्रम और प्रपञ्च ही उत्पन्न कर सकती है।

संस्कृति एक चमात है, एक घाटी, जिसको अंगीकार हम नहीं करते तो आवश्यक अर्थ होता है कि विकृति को हम स्वीकार करते हैं।

या तो विवेक पूर्वक संस्कार की ओर हम बढ़ते हैं, नहीं तो राग-पूर्वक विकार की ओर हटते हैं। केवल स्थिति इस जगत में नहीं है। चढ़ेंगे नहीं, तो गिरना हमारे लिए लाज़मी है। उन्नति का अभाव अवनति है। जीवन सतत गतिशीलता है। संस्कृति की ओर है, वह प्रगति; अन्यथा अवगति है; जो विकार में से आती और विकृति में पहुँचाती है।

संस्कृति, जो विद्वानों और विज्ञानों की वस्तु है, अनन्त शाखा-रूप है। वहाँ मूलाधिष्ठान पाना कठिन होता है। चुनांचे ऐसी विविध संस्कृतियाँ आपस में ले-दे मचाती देखी जाती हैं, वैसे ही जैसे कि आँधी में शाखाएं आपस में उलझ पड़ती हैं। आंधी से अपने को अभिन्न समझ लें, तो शाखाओं के लिए यह कठिन नहीं है कि अपनी बढ़ाबढ़ी में वृक्ष के मेरुदण्ड से अपने सबके सम्बन्ध को वे भूल जायँ, भूल चाहे जायँ, पर उनकी स्थिति का आधार वही है। उस आधार से ही कहीं वे टूटीं, तो तत्क्षणधूल पर उन्हें आ पड़ना होगा। फिर हरियाली के वहाँ से उड़ने और सूखकर उनके ईंधन बनने में देर न लगेगी।

संस्कृति और शेखी परस्पर विमुख तत्त्व हैं। हाल की बात है कि यहाँ दिन-दहाड़े कत्ल हो रहे थे और शौर्य मानो उफान खा रहा था। एक ओर से 'अल्ला हो अकबर' का नारा उठता था, तो दूसरी तरफ से 'हर-हर महादेव' का निनाद। यह पराक्रम पुरुष का पुरुषार्थ न था, उसकी विडम्बना थी। दोनों तरफ इसमें शेखी थी। 'अल्ला-हो-अकबर' और 'हर-हर महादेव' पवित्र-से पवित्र उच्चार हैं; लेकिन शेखी पर चढ़कर एक शैतानी तमाशे के सिवा वे कुछ नहीं रह जाते। तब वे इन्सानियत के दिवाले की घोषणा हो जाते हैं।

'अपनी' संस्कृति का दर्प—यह भाव ही मिथ्या है। इसमें 'पराई' संस्कृति की अवज्ञा समाई ही है। जहाँ अपनी-पराई संज्ञाओं के प्रयोग में यह अभिमान-एवं-अपमान का भाव आ जाता है, वहाँ स्व-पर की भाषा और स्व-पर का बोध भ्रान्त मानना चाहिए। वह आत्म-बोध में साधक नहीं, बाधक होने वाला है। अभेद की भूमिपर भेद स्वयं स्वीकारणीय और आदरणीय बनता है। लेकिन भेद जो मूल के अभेद को खाने चले निरी मूर्खता है। इसी से शेखी से उपहास्य वस्तु दूसरी नहीं और पागल वह है, जो अपने को सब से अक्लमन्द गिनता है। अतः संस्कृति का लक्षण है: विनय, भक्ति।

हम अहन्ता लेकर जीते हैं। जो हमको एक ओर इकट्ठा रखती है, वह हमारी अहन्ता ही है। किन्तु उस अहन्ता को व्यक्तित्व गिनना भूल होगी। अहन्ता यद्यपि होने की भूमि है, पर वही होने की व्याधि भी है। इसीसे बार-बार होना, जिसे धार्मिक भव-बाधा या आवागमन कहते हैं, कुछ उपादेय नहीं समझा जाता है। मुक्ति इस होने, यानी होते रहने, से मुक्ति है। आवागमन से निकल कर फिर क्या होगा, यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं है। सार बस इतने में ही है कि स्वयं होकर होने में सुख नहीं है पूर्णता नहीं है, प्रत्युत निरन्तर बन्ध का बोध है। अर्थात् अहंभाव द्वारा हम जीते हैं, तो भी उससे अधिकाधिक छूटते जाना उत्तरोत्तर सच्चा जीते जाना है। अपने को याद रखे रहना सबसे बड़ा दुःख है, भूल जाना सुख। जो जितना ही कम 'अस्मित्व' है, वह उतना ही महान 'अस्तित्व' है। व्यक्तित्व (या अस्तित्व) सम्पादन के लिए 'अस्मित्व' का संग्रह नहीं, उत्सर्ग चाहिए। इसी से देखते हैं कि जो आगे बढ़ कर मरता है, वह अमर बनता है। यानी जीने की कला, उसकी कुञ्जी, मरने की शिक्षा और साधना में है। इस बात को समझें तो जैसे संस्कृति का सार मिल जाता है।

हम अपने को जगत का केन्द्र मान कर जीते हैं, यह है विकृति।
हम जगत में शून्य भाव से जियें, यह होगी संस्कृति।

अहन्ता से शून्यता की ओर जाना विकार से संस्कार की ओर उठना है।

ऊपर की बात को तात्त्विक से व्यावहारिक बनाकर लिया जाय। उसे मानव-सम्बन्धों पर घटित कर देखा जाय। तो जब मेरे लिए सामने का व्यक्ति प्रधान और मैं स्वयं उसकी अपेक्षा में गौण बनता हूँ; यानी उसे आदर देता हूँ, चाहे उधर से अपमान ही पा रहा होऊँ; सौदे में उसका लाभ प्रथम देखता हूँ और अपने लिए यथावश्यक पर सन्तोष करता हूँ; उसको सुख देकर अपने दुःख को भूल जाता हूँ; संक्षेप में उसके कल्याण में स्वयं काम आता हूँ—तो यह संस्कृति की दिशा की साधना है। इस तरह की प्रवृत्ति से समस्याओं का धरातल उठेगा (क्योंकि समस्या निबटने के लिए नहीं है, केवल उठते जाने के लिए है); बन्धन टूटेंगे और जो विष मानव-सम्बन्धों को कुटिल और कठिन बनाए रखता है और मद-मत्सर, ईर्ष्या-लालसा, और द्वेष-दुर्भाव पैदा करके बौद्धिक से मारक-दर्शन और वैज्ञानिक से संहारक-शस्त्रास्त्र का आविष्कार करवाता है—वह विष कटेगा। स्नेह की कुन्ठा उससे दूर होगी और सहानुभूति का प्रकृत प्रभाव खुलेगा।

दूसरे सिद्धान्त से हम सामनेवाले को अपने स्नेह के बजाय स्वार्थ का उपादान बना सकते हैं। तब हम अपने को उसके लिए नहीं, उसे अपने लिए मानेंगे—अर्थात् उससे अपना प्रयोजन साधने का सदा और प्रमुख ध्यान रखेंगे। अपने लाभ को इतना देखेंगे कि उसको ठगने से नहीं कतरायँगे। स्वयं उसमें से अपना सुख निकाल लेंगे, चाहे फिर उसके भाग में दुःख ही रह जाय। अपने सम्मान की भरपूर चिन्ता रखेंगे, फिर

चाहे इससे कितनों का भी अपमान होता रहे। अपने लिए पद रखेंगे और दूसरे के लिए सिर्फ वोट; दूसरे को आशा देंगे, अपने को प्राप्ति। तो जीवन की यह पद्धति दूसरी दिशा की ओर ले जाती है। मैं मानता हूँ कि इस दिशा की प्रवृत्ति निश्चित रूप से संकट को और विकट करनेवाली है। वह शोषण की है, हिंसा की है। अब दीखनेवाले काम-धाम—उपकार, सुधार, व्यापार, शासन, व्यवस्था, सभा-संगठन, समाज-साधना आदि सब तरह के सब काम—ऊपर की दोनों वृत्तियों से किए और चलाए जा सकते हैं। पहली अवस्था में ही वे साधक हो सकते हैं, अन्यथा वे सब बाधक और बंधनकारक होने वाले हैं।

संस्कृति का अतः बाह्य कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। काम की भाषा, या उस प्रकार की आग्रह-आकांक्षा, विकार का लक्षण मानी जा सकती हैं। कर्म रचनात्मक वह है, जो संस्कृति-निष्ठा, यानी अहिंसक प्रेरणा में से आता है। *कर्म से संस्कृति या अहिंसा नहीं है, संस्कृति में से कर्म को होना है।* अर्थात्, धर्मपूर्वक कर्म।

जहाँ 'मैं' प्रधान हूँ, और दूसरा मेरे प्रयोजन की अपेक्षा में ही है, वहाँ का समस्त कर्म संस्कृति मूलक न होने से व्यर्थ और अनिष्ट कर्म है। मानना होगा कि 'पालिटिक्स', जहाँ उसका रंग मन तक पहुँचा हुआ हो, स्पष्ट ही विकृत और रुग्ण कर्म है। वह मानवता को दहका सकता है, दमका नहीं सकता; जला सकता है, उजला नहीं सकता।

निश्चय ही वे मान, वे मूल्य, जिन पर जगत का समग्र कर्म-व्यापार कसा और परखा जायगा, यह घटनाओं से बननेवाले समूचे इतिहास से जिनकी पुष्टि और सिद्धि माँगी जायगी, वे मूल्य सांस्कृतिक हैं अथवा मानवीय हैं।

मूल्य का आशय लक्ष्य नहीं, कि जिसको आगे रखना काफी हो। उसका मतलब है वह घड़ी, वह तुला, जिसको हर वक्त साथ रखना

ज़रूरी है। उस पर सही उतरे वह तो रखना और बाकी सब-कुछ फेंक देना होगा।

बृहद् कर्म का मोह इसमें अक्सर बाधा डालता है। सिर्फ इसलिए कि डाका बहुत बड़ा है, हम डाकू के प्रशंसक बन सकते हैं। प्रशंसा में डाकू की जगह दूसरा बढ़िया नाम तक उसे दे सकते हैं। लेकिन यह केवल मोह की महिमा है और मन को भुलावा है। छोटे व्यक्तिगत सौदे में जो नफाखोरी बुरी दीखती है, बड़े सांस्थानिक या राष्ट्रीय पैमाने पर वही हमें गौरवशाली दीखने लग सकती है। गाय की हत्या पर जुगुप्सा हो सकती है, पर चमड़े के व्यापार में करोड़ों की कमाई ठीक लग आती है। हत्या से जी घबराता है, लेकिन युद्धवाली हिंसा, या उत्पादन के और पूंजी के अमित केन्द्रीकरण से होनेवाली व्यापक और सूक्ष्म हिंसा, हमको प्रिय लग सकती है। यह सिर्फ 'बृहत्ता' की माया है। स्थूल आँख गुण तक नहीं पहुँचती, परिणाम पर भटकती है। मशीन इसी से मोहती है और मनुष्य पर विजय पाती है। इससे बचना जितना कठिन है, उतना ही आवश्यक भी है। राजनीतिक नेता उसी मोह को मनमें जगाकर, खुशहाली और तरक्की के बड़े-बड़े नक्शे देकर, बहुमत को साधता और अपना नायकत्व बाँधता है। परिणाम (Quantity) क जोर से अक्सर गुण (Quality) की त्रुटि ढँक जाती है। परिणाम की भाषा इसलिए सांस्कृतिक इष्ट के लिए बिल्कुल विदेशी है। अर्थ-गणित, जो व्यक्ति को अंक में आँकता है, अन्त में स्वार्थ को प्रतिष्ठा देता है। वह शोषण का अस्त्र बनता है।

आर्थिक आँकड़े आधुनिक शिक्षित के मन पर इस कदर बैठते हैं कि उनके तलकी पारमार्थिक भूमिका के बारे में सावधान होने का अवकाश नहीं सूझता। प्लानिंग बड़ा हो, तो छोटों मोटों की सुख-सुविधा इतनी तुच्छ लगती है कि उसपर अटकना मूर्खता प्रतीत हो आती है।

इसी से भाव से अधिक प्रभाव का महत्त्व हो बनता है। राजनीति आदमी को नहीं देखती, उसके प्रभाव को देखती है। प्रभाव में उसका बाजार-भाव है। उसका अन्तरंग भाव क्या है, यह विचार अनावश्यक होता है। तब प्रभाव बढ़ाना इष्ट होता और भाव-शुद्धि व्यर्थ होती है। लौकिक प्रतिष्ठा आत्म-निष्ठा से बड़ी और गौरव की चीज़ बन जाती है।

संस्कृति के लिए यह भारी खतरा है। यह आंकिक और पारिमाणिक दर्शन। भौतिक क्या, इसे ऐन्द्रियिक दर्शन कहना चाहिए। मन मारकर तन सजाने की बात समझदारी की तो समझी नहीं जा सकती। फिर भी उधर दौड़ दीखती है।

पर मानवात्मा अपने विरुद्ध अधिक काल जा न सकेगा। संस्कृति विकृति की जकड़ से छुटकारा पायगी और राष्ट्रवाद मानवता को बहुत काल छावनियों में बाँटकर कटा-फटा नहीं रख सकेगा। प्रकृत मानव अपने को और अपनी एकता को पहचानेगा और बनावटी गर्व उसके प्रयास की राह से सहज भाव में गिर रहेंगे।

: १२ :

प्रतिष्ठा का मोह

श्री केदारनाथजी

प्रत्येक मोह मनुष्य की उन्नति का बाधक और अवनति का कारण होता है। उसमें भी मान और प्रतिष्ठा के मोह की विशेषता यह कि उससे होनेवाली अवनति जल्दी ध्यान में नहीं आती। इसलिए इस संबंध में साधक का अधिक सावधान रहना आवश्यक है। इस मोह से अलिप्त रहना हो तो हमें अपने ध्येय का सतत भान रहना चाहिए। तुम देश कार्य में, राष्ट्रकार्य में, समाज सेवा में हो तो तुम्हारे सद्गुणों के कारण, सेवावृत्ति के कारण, तुम्हारा गौरव करने की, तुम्हारा मान-सन्मान करने की लोगों की इच्छा होना सहज है, परंतु ऐसे प्रसंगों पर अपना गौरव न कराते हुए, स्वयं सन्मान न ग्रहण करते हुए तुम्हारे सदाचरण का अनुकरण करने का उनसे आग्रह करना और वैसा करने में तुम्हारा गौरव है, यह तुम्हें उनको समझाना चाहिए। लोगों के मन में तुम्हारे प्रति सच्चा आदर होगा तो वे तुम्हारी बात मानेंगे। तुम्हारे प्रति उनके मन में रहे हुए सद्भाव का उनके कल्याण के लिए उपयोग करने में ही सच्ची सेवा है। यदि तुम्हारे मन में लोगों के प्रति सच्चा प्रेम जाग्रत हो, तुम निरहंकारी हो और तुम अपनी उन्नति के सम्बन्ध में सावधान हो, तुम में कार्य दक्षता हो तो ही तुम इसे साध सकते हो। लेकिन ये सद्गुण तुम में न हों तो मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति के मोह में तुम अधिक से अधिक उलझ जाओगे। ज्यों ज्यों समय बीतेगा, वह तुम्हारा व्यसन बन जायगा। मान-प्रतिष्ठा के बिना सत्कर्म करने क

तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो जावेगी। जिस प्रकार व्यसनी को नशीली वस्तु मिले बिना कार्य करने का उत्साह नहीं आता, उसी प्रकार तुम्हारी स्थिति होगी। प्रत्येक अच्छा कार्य करते समय तुम अपनी प्रशंसा की राह देखते रहोगे। उसके न मिलने पर तुम्हारे मन में खेद उत्पन्न होगा, सत्कर्म की तुम्हारी श्रद्धा नष्ट हो जावेगी और तुम्हारी मानवता की उपासना रुक जावेगी। दूसरों की ओर से मान न मिलने पर तुम्हें वह बात अपमान की तरह दुःखप्रद लगेगी। उस संबंध में तुम्हारे मन में क्रोध या तिरस्कार उत्पन्न होना संभव है। मान की झूठी टेव तुम्हें किस हद तक अवनति की ओर ले जायेगी, नहीं कहा जा सकता। आज भले कामों में लगे हुए अनेक लोगों में से बहुत से कार्य करने और उसके द्वारा अपनी उन्नति करने के स्थान पर अपनी मान-प्रतिष्ठा की ओर अधिक ध्यान देते हैं। और उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से प्रयत्न करते हैं। साथ ही असत्य, दंभ, धूर्तता का आचरण करते हैं, और बाहर से कार्य-निष्ठा और निरहंकारिता दिखाते हैं। इस संबंध में सावधान न रहने पर तुम भी उन जैसे बन जाओगे।

आदमी इस मोह में एकदम नहीं फंस जाता। मान देनेवाले और लेनेवाले दोनों को इस बात में आनंद होता है। उसके कारण उसे स्वीकार करते समय हमें कोई अन्याय या दुष्टता करनी चाहिए ऐसा पहले-पहल नहीं लगता, बल्कि हमें दूसरों को आनंद प्रदान करना चाहिए, यही लगता है। लेकिन आगे चलकर इसके लिए कितने असत्य, दंभ और अन्याय में हमें पड़ना पड़ता है, इसकी कल्पना भी किसी को नहीं होती। मान-प्रतिष्ठा की एक बार चाट लगने पर और वह व्यसन बन जाने पर मनुष्य पहली स्थिति में नहीं रहता। वह दिन-पर-दिन अवनति की ओर बढ़ता जाता है। सात्विकता से रहनेवाले, जिन्होंने उन्नति के लिए बहुत कुछ सहन किया है, ऐसे भक्त कोटि के मनुष्य भी लोगों द्वारा प्राप्त मान-प्रतिष्ठा

के कारण और कीर्ति के कारण अपने को ईश्वर मानने लगते हैं। इतना मद और इतना नशा इस मोह में है कि वह थोड़े दिनों में मनुष्य की मनुष्यता भुला देता है। "मैं ही आत्मा हूं" "मैं ही ब्रह्म हूं" "मैं ही ईश्वर हूं" इस तरह, चाहे जैसा असंबद्ध बोलने लगता है। मनुष्य का अहंकार, उसका अविवेक, उसकी असावधानी और मानवता के प्रति उसका अविश्वास—आज उसी के कारण हैं। अपने प्रति लोगों के आदर के कारण उसका अहंकार पुष्ट होता जाता है। उसे उत्तेजना मिलती जाती है। उस अहंकार में से मद, मद में से नशा, नशे में से बुद्धिभ्रंश और उसके कारण बहुत कुछ अनर्थ होते हैं। इस मोह में रहा हुआ मद और नशा उग्र न हो तो भी वह हमारी मति और विवेक को बधिर कर डालते हैं, इस में शक नहीं।

इस मोह में जब आदमी फंसता है, तब पहली बात यह होती है कि उसकी सत्य के प्रति श्रद्धा कम हो जाती है। अपने में कोई गुण हों या न हों किन्तु वे सब उसमें हैं यह बताने की मनोवृत्ति पैदा हो जाती है। उन गुणों की लोगों द्वारा प्रशंसा करने पर उसे अच्छा लगता है। ईश्वर का भक्त कहलानेवाला भी अपने में असंभव जैसे चमत्कार की शक्ति का भास कराता है। अथवा वैसी शक्ति है ऐसा लोग कहने लगते हैं तो वह उसे स्वीकार करता है। वह इस मोह में फँस जाता है। अपने में न होनेवाले इन, गुणों की प्रशंसा सुनने की आदत पड़ने पर उन गुणों को लेकर दूसरों की प्रशंसा सुनते ही उस में ईर्षा और मत्सर पैदा हो जाता है। दूसरों पर कितने ही दोषारोपण करने का वह प्रयत्न करता है। इस प्रकार सत्य छूट जाने पर एक के बाद एक अनुचित बातें उसकी ओर से होने लगती हैं। वस्तुतः धनवान उदार या परोपकारी होता है, यह बात नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु उसके दान में दया होती है, यह भी बात नहीं है। इसी प्रकार राष्ट्र-कार्य करने

वालों में व्यापक राष्ट्र भावना होती ही है, ऐसा नहीं है। तीर्थयात्रा या भजन-पूजन करनेवालों में ईश्वर प्रेम होता ही है, ऐसा नहीं है; उनमें मानव-प्रेम, भूतदया होती है यह भी नहीं। इससे हमें समझना चाहिए कि गीता पर व्याख्यान देने और आध्यात्मिक ज्ञान होने में अंतर है। अविवाहित स्थिति और ब्रह्मचर्य अवस्था में अन्तर है। हिमालय और एकान्तवास का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है ही, यह नहीं समझना चाहिए। बल संपन्न होने और पवित्रता को साधने में बहुत अन्तर है। साधुता और उसके भिन्न वेश—इनका कोई सम्बन्ध नहीं। इतना होने पर भी इस बारे में श्रद्धालुपन के कारण लोग फंस जाते हैं और जानबूझ कर उन्हें फंसाया भी जाता है। जो सत्य का उपासक है वह गुणों के प्रति निरहंकार रहता है और अपने में अविद्यमान गुणों का कभी भास नहीं कराता। उसे प्रतिष्ठा की अपेक्षा सत्य और मानवता अनेक गुणी श्रेष्ठ प्रतीत होती है।

आप बाह्य वेश से या उन्नति के लिए अनावश्यक एक ही व्रत या नियम से अपनी विशेषता प्रकट करने का प्रयत्न न करें। आपमें सादगी और व्यवस्थितता होनी चाहिए। आरोग्य और स्वच्छता को महत्त्व दीजिए। सद्गुण और सदाचार के कारण जो स्वाभाविक विशेषता आपमें मालूम देती हो उसकी अपेक्षा दूसरी किसी भी विशेषता का तुम्हारे कल्याण की दृष्टि से अपने मनमें महत्त्व न होना चाहिए। विशेषता से मनुष्य में भिन्नता दिखाई देती है। भिन्नता के कारण लोक में कोई भाव निर्माण होता है। उसके लिए कोई अपनी विशेषता बाह्यवेश से, कोई भाषण से और कोई किसी संकेत से बताते हैं। कदाचित् उसमें उनका पहला हेतु निरंहकार का हो, फिर भी आगे जाकर धीरे धीरे अहंकार की वृद्धि होती है। उन्नति की दृष्टि से ऐसी विशेषता का कोई उपयोग नहीं, उल्टा मान-प्रतिष्ठा में उसका उपयोग होता है।

कदाचित् आप में से आगे जाकर कोई श्रेष्ठ हो जाता है और उसका रजत या सुवर्ण महोत्सव मनाने का प्रसंग आ जाता है। तो उस समय उसे सावधानी से टालने में ही उसका और दूसरों का कल्याण है। अन्यथा उस निमित्त से उसमें मान-प्रतिष्ठा का मोह जाग्रत होगा। लोकेच्छा या मान देने के बहाने के नीचे और निरहंकार के भ्रम पर उसके लिए वह तैयार होगा और अन्त में इसमें उलझ जायगा। ऐसी स्थिति में उसे कोई जाग्रत करना चाहे तो उसे वह शत्रु जैसा लगेगा। उसे अपनी ईर्षा और मत्सर होता है आदि आदि कहने में वह पीछे नहीं रहेगा; क्योंकि अहंकार जाग्रत हो जाने के बाद विवेक रहना कठिन है। यदि हमें सदाचारी होना है, उसपर हमारी निष्ठा हो, मानव जाति का उसमें कल्याण है, ऐसा हमारा विश्वास हो तो हम मान-प्रतिष्ठा के मोह में कभी नहीं पड़ेंगे। सदाचरण के कारण हममें जो बल निर्माण होता जायगा, जो शुद्धि बढ़ती जायगी उसका उपयोग दूसरे किसी भी काम में न कर सदाचार का बल और शुद्धि बढ़ाने में हम करते रहेंगे। मानवता पर विश्वास और सावधानी के कारण हम इसी का आचरण करते रहेंगे। अहंकार में मानवता का गौरव नहीं, बल्कि उसकी विडम्बना है। धन, विद्या, बल, यौवन, सौंदर्य, कला, सत्ता; इतना ही नहीं, ईश्वरभक्ति और ज्ञान के निमित्त से भी जीव में रहा हुआ अहंकार जाग्रत होकर बढ़ता जाता है। लोकादर में से वह पोषित होता जाता है। पर हमें यह सब जानकर स्पष्ट रूप में समझना चाहिए कि लोगों की इच्छा के लिए हमें भूल भरे मार्ग पर लोकरंजन में नहीं पड़ना चाहिए। लोग आज हमें ईश्वर बनाएंगे और उसमें आनन्द मानेंगे, तो कल हमारा पतन होनेपर निन्दा करके उसमें भी आनन्द मानेंगे। और मान लीजिए कि वे हमारी निन्दा नहीं करेंगे और अन्त तक हमारे प्रशंसक और पूजक रहेंगे, तो उससे उनका या हमारा क्या कल्याण होगा? एक दूसरे में न हों ऐसे

गुणों की प्रशंसा करते रहकर या दोष सहन करते रहकर सबको दंभी बनाने में किसका कल्याण होनेवाला है ? इन सब बातों का विचार करके सबको अहंकार से दूर रहना चाहिए। चित्त को सदा शुद्ध रखकर अपनी मानवता बढ़ाने के लिए सद्‌गुणों का आग्रह रखना यही हमारे जीवन का कार्य है, यह आपको समझना चाहिए। जीवन का सच्चा महत्त्व समझने के बाद और जीवन का शुद्ध आदर्श गले उतरने के बाद आप किसी मोह में नहीं पड़ेंगे। परमात्मा पर आपकी निष्ठा होगी तो वह आपको अधिक मोह में, विघ्न में और संकट में सावधान रखेगा और आपको मानवता की सीमा तक पहुँचा देगा, इस में मुझे शंका नहीं है।*

---

* एक प्रवचन; अनु० : ज. जैन

: १३ :

मैं भी सूत कातता हूं

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में एक समय था, जब सूत कातना प्रगतिशीलता का लक्षण था। आज तो वह कदाचित् प्रतिक्रियावादिता का चिन्ह माना जाने लगा है। इस युग-परिवर्तन की पूरी जानकारी रखते हुए भी मैं सूत कातता हूं।

मेरे दार्शनिक को जब कोई और काम नहीं रहता तो उसे जीवन की सूत के कच्चे धागे से उपमा देना ही अच्छा लगता है। सूत का कच्चा धागा! न जाने कब और किस क्षण टूट जाय! सावधानी से काता जाय, संभल-संभल कर काता जाय तो जीवन-सूत्र स्वच्छ, सुदृढ़ और लम्बा बन जाता है।

बचपन में सुनी एक उपमा याद आ गई—

"पैसा ही रंग-रूप है, पैसा ही 'माल' है,
पैसा न हो तो आदमी चर्खे की 'माल' है"

इस उपमा का कोई यह अर्थ न लगावे कि पैसों के माहात्म्य के औचित्य को स्वीकार किया गया है। इस उपमा में केवल वस्तु-स्थिति का उल्लेख-मात्र है। सचमुच आज जीवन में वास्तविक धन का नहीं, किन्तु धन के प्रतीक पैसे का जो स्थान और अधिकार हो गया है उसके रहते, बिना पैसे के आदमी का हाल चर्खे की माल से भी बदतर है।

हां, तो मैं सूत क्यों कातता हूं? मेरा सीधा-सादा उत्तर है—क्योंकि मैं कपड़ा पहनता हूं।

निवृत्ति प्रधान श्रमण-संस्कृति को मेरे सूत कातने पर कई आपत्तियां हैं। एक तो यह है कि श्रमण को किसी भी चीज के उत्पन्न करने का अधिकार नहीं है। मेरा उत्तर है कि सूत कातना किसी भी चीज को उत्पन्न करना नहीं है। यह तो केवल पूनी को सूत के रूप में परिवर्तित करना है।

सूत कातना 'उत्पन्न' करना हो या 'परिवर्तित' करना, उसके मूल में जो निषेधात्मक आपत्ति है उसका मूल कारण इतना ही है कि सभी प्रवृत्तियों के मूल में संग्रह और परिग्रह है, और यह संग्रह और परिग्रह बढ़ते बढ़ते श्रमण के श्रमणत्व को नष्ट कर दे सकता है। श्रमण की जीविका का आधार है भिक्षा। जिस प्रकार वह खाने के लिए अन्न पैदा नहीं करता, किन्तु पका-पकाया दाल-भात ही भिक्षा रूप में ग्रहण करता है, उसी प्रकार उसे सूत कातने आदि के प्रपंच में न पड़कर बना-बनाया वस्त्र ही दानरूप में ग्रहण करना चाहिए।

हर व्यक्ति की कुछ न कुछ आवश्यकताएं होती हैं। श्रमण भी उस नियम का अपवाद नहीं। व्यक्ति, कोई भी हो, अपनी आवश्यकताओं को घटा-बढ़ा सकता है, किन्तु उन्हें समूल नष्ट नहीं कर सकता। व्यक्ति की कितनी आवश्यकताओं को उचित माना जाय इसमें देश-काल ही नहीं उस व्यक्ति का कार्य, आयु और स्वास्थ्य तक प्रमाण है। धार्मिक नियम व्यक्ति को बांध सकते हैं, उसे संयत नहीं बना सकते। व्यक्ति की आवश्यकताओं का सच्चा निर्णायक उसका अपना विवेक ही है।

अपनी आवश्यकता की पूर्ति के थोड़े अथवा बहुत साधनों को अपने पास रखने मात्र को संग्रह भले ही कहा जा सके, किन्तु उसे अनिवार्य रूप से परिग्रह नहीं कहा जा सकता। यदि हम संग्रह मात्र को परिग्रह मानने लगें तो आदमी जितना ही दरिद्र हो उतना ही अपरिग्रही भी माना जाना चाहिए। संग्रह और परिग्रह के सूक्ष्म भेद को बिना समझे दरिद्र और अपरिग्रही का अन्तर समझ में आ ही नहीं सकता।

मेरी मान्यता है कि यदि कोई श्रमण कातने की इच्छा से एक तकली या एक चरखा भी अपनी आवश्यकताओं में शामिल कर लेता है तो वह उतने से अनिवार्य रूपसे परिग्रही नहीं होता।

लेकिन हम वस्त्र अथवा कोई भी दूसरी चीज उत्पन्न करने से इतना डरें ही क्यों? समाज अथवा समाज के कुछ लोग वस्तु को उत्पन्न करें और उसी समाज के अन्य कुछ लोग उस उत्पन्न वस्तु के परिभोगमात्र में हिस्सेदार हों—इसमें क्या कोई बड़ी आदर्श-वादिता अथवा आध्यात्मिकता है? हर व्यक्ति हर वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु हर व्यक्ति किसी न किसी वस्तु को तो उत्पन्न कर ही सकता है। हम श्रमण कहलाने वाले जीव भी यदि समाज के सामूहिक भंडार को अपनी अल्प अथवा अधिक सामर्थ्य के अनुसार किसी न किसी वस्तु की उत्पत्ति द्वारा कम से कम उस मात्रा में भरने का प्रयत्न करें, जिस मात्रा में हम उसमें से कुछ न कुछ ग्रहण करते ही हैं, तो इसमें आखिर क्या हर्ज है?

कहने वालों का कहना है कि साधक अपनी आध्यात्मिक साधना से और विद्वान अपनी विद्वत्ता से जिस मात्रा में समाज के सामूहिक भंडार की पूर्ति करता है उसके बाद उससे और किसी भी तरह की अपेक्षा रखना अपने अविवेक का परिचय देना है। मेरा निवेदन है कि साधक की आध्यात्मिक साधना और विद्वान की विद्वत्ता के बावजूद जब उन दोनों को रोटी-कपड़े की आवश्यता रहती ही है, और दूसरे सामान्यजनों से कुछ कम नहीं रहती, तो फिर वे किसी न किसी भौतिक वस्तु की उत्पत्ति में भी सीधा हिस्सा क्यों न लें? उन्हें समझ लेना चाहिए कि उनकी आध्यात्मिक साधना और विद्वत्ता प्रधान रूप से उनके अपने लिए है, किन्तु किसान का अन्न, सब उसके अपने लिए और उनके लिए—दोनों के लिए है।

क्या आध्यात्मिक साधना और भौतिक वस्तु की उत्पत्ति के प्रयत्नों में सचमुच एकदम तीन-छः का सम्बन्ध है ? क्या आध्यात्मिक साधना के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि साधक को बिना हाथ पैर हिलाये, निठल्ले बैठे ही खाना-कपड़ा मिला करे ? इन पंक्तियों के लेखक की तो विनम्र मान्यता है कि हमारी भौतिक खटपट ही वह कसौटी है जिस पर हमारी आध्यात्मिक साधना की नित्य प्रति परख होती रहती है। जो आध्यात्मिक साधना दिनरात की सांसारिक खटपट पर खरी नहीं उतरती, उसमें निश्चय से कुछ खोट है।

मेरे सदृश किसी एक सामान्य श्रमण का सूत कातना तो सांसारिक खटपट का अथवा भौतिक कर्तृत्व का एक प्रतीक मात्र है। भौतिक लाभ इसमें इतना ही है कि यदि कोई नियमपूर्वक कातता रहे तो वह अपने वस्त्रों के लिए स्वावलंबी हो सकता है और यदि कहीं वह अपने ही कते सूत के वस्त्र पहनने का संकल्प कर ले तो वह अनायास बहुत से अनावश्यक प्रपंच से भी बचा रह सकता है। यह न व्यक्ति के लिए ही कम लाभ है और न समाज के लिए भी।

सूत कातने जैसी सांसारिक खटपट का आध्यात्मिक साधना से न केवल कोई विरोध ही नहीं है, किन्तु वह उसकी सहायक और पूरक है। आपकी इच्छा की पूर्ति न होने से अथवा उसके प्रतिकूल कोई कार्य हो जाने से यदि आप खीझ उठे हैं अथवा मिजाज चिड़चिड़ा हो गया है तो यह चरखा लेकर कातने बैठने का सर्वोत्तम समय है। मन का चिड़-चिड़ापन बनाये रखकर आप कात न सकेंगे और कातने के लिए—सूत न टूटने देने के लिए—आपको अपने आपको शान्त करना ही पड़ेगा। दूध सा स्वच्छ सूत और चन्द्रमा की शान्ति जैसी शान्ति, दोनों एक साथ। प्रयत्न एक और सिद्धियां दो।

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आध्यात्मिक साधना जैसी बड़ी बड़ी बातों को छोड़ दें तो सूत कातने के पक्ष में मेरे लिए एक बड़ा आकर्षण है—अपनी कर्तृत्व इच्छा की अल्प-स्वल्प पूर्ति। मुझे जर्मन में एक साठ वर्ष के जवान मिले थे। उनका कहना था कि उन्हें किसी ऐसी चीज के उपयोग में कुछ भी रस नहीं आता जिसे उन्होंने अपने हाथ से न बनाया हो। उनकी कुर्सी उनके अपने हाथ की बनी थी। उनकी मेज उनके अपने हाथ की थी। उनकी चारपाई उनके अपने हाथ की थी। उनकी किताबों की जिल्द उनके अपने हाथ की बंधी थी। सचमुच अपने हाथ के तार-तार कते सूत से बने कपड़े के पहनने में जो आनन्द है वह पैसों के बल पर बाजार से गजों थान खरीदने में कहाँ।

उस दिन मैं बैठा कात रहा था। मेरे एक प्रगतिशील मित्र—एक प्रसिद्ध समाजवादी नेता—कमरे में आये। बोले—तुम्हारे कातने से क्रान्ति होगी!

'न, मेरे कातने से नहीं होगी, तुम्हारे सिगरेट पीने से होगी!'

मैं क्रान्ति की बात नहीं कहता, यदि कहता हूं तो व्यक्तिगत क्रान्ति की। सामूहिक क्रान्ति सामूहिक प्रयत्न की चीज है। धार्मिक लोगों के लिए जो आकर्षण स्वर्ग में है, सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए उससे कहीं बढ़कर आकर्षण क्रान्ति में। स्वर्ग और क्रान्ति में इतना ही अन्तर है कि स्वर्ग परलोक की वस्तु है और क्रान्ति इहलोक की। यह अन्तर कोई छोटा अन्तर नहीं है।

मैं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की भी कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं करता। इन बड़ी बड़ी मशीनों के युग में क्या मेरी तकली और क्या मेरा चर्खा! गरीब तकली-चर्खे को तो व्यर्थ में मशीनों का विरोधी समझ लिया गया है। इनका अपराध इतना ही है कि यह साधनहीन

सर्वहारा की मशीनें हैं और इसीलिए कदाचित् यह किसी भी पूंजीवादी को फूटी आंख नहीं भाती ।

मैं आध्यात्मिक साधना की भी बढ़ी-चढ़ी बात नहीं करता । वह वस्तु मेरे लिए कुछ उतनी ही अज्ञेय है जितना क्षय का रोग डाक्टर और वैद्यों के लिए । किन्तु यदि आध्यात्मिक साधना नाम की कोई सारवान् वस्तु है तो मेरी तकली और मेरा चरखा एकदम उसके विरोधी नहीं ।

इसी से मैं जब तब सूत कातता हूं ।